ध्यान एवं नैतिक मूल्यों का दिग्दर्शक

सरल एवं सुबोध कथानक

इन भावों का फल क्या होगा



लेखक

पण्डित रतनचन्द भारिल्ल

शास्त्री, न्यायतीर्थ, साहित्यरत्न, एम.ए., बी.एड.

प्राचार्य, श्री टोडरमल दि. जैन सिद्धान्त महाविद्यालय, जयपुर

प्रकाशक

पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट

ए-४, बापूनगर, जयपुर - ३०२०१५

हिन्दी

- प्रथमावृत्ति :
  २५ फरवरी, १९९६ ई. ५ हजार
- द्वितीयावृत्ति :
  १ जून, १९९६ ई. ५ हजार
- तृतीयावृत्ति :
  १ अक्टूबर, १९९६ ई. ५ हजार
- चतुर्थावृत्ति :
  १ फरवरी, १९९७ ई. ५ हजार
- जैनपथप्रदर्शक में
  धारावाहिक प्रकाशित ३ हजार

मराठी

- प्रथमावृत्ति :
  १ नवम्बर, १९९६ ई. ३ हजार

गुजराती

- प्रथमावृत्ति :
  १ जनवरी, १९९७ ई. ३ हजार

कुल २९ हजार

मूल्य : १५ रुपये मात्र
(पक्की जिल्द)

मुद्रक :
जयपुर प्रिन्टर्स प्रा. लि.
एम. आई. रोड, जयपुर

प्रस्तुत संस्करण की कीमत कम करने वाले दातारों की सूची

साहित्य प्रचार ध्रुवफण्ड हस्ते पं. टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर	५,०००
श्री सुमेरमल अशोक कुमार तिनसुखिया	४,०००
श्रीमती जशवन्तीबेन श्री मगनलालजी शाह देवलाली	३,०००
श्री पाटलीपुत्र दिगम्बर जैन समिति	१,१००
श्री निहालचन्दजी अजमेरा भीलवाड़ा	१,०००
श्री फूलचन्दजी सिंघई इम्फाल	१,०००
घोड़ा छगनलालजी दीपचन्दजी जैन, कलिंजरा	१,०००
श्री सुभापजी सोमचन्दजी कोटड़िया, वासी	१,०००
श्री प्रवीणभाई एम. बोरा मुम्बई	१,०००
श्री महिला मुमुक्षु मण्डल वारासिवनी	१,०००
श्रीमती मन्जु गणपतसिंहजी लोढ़ा, कनाडा	१,०००
श्री दिगम्बर जैन समाज, कलिंजरा	५००
गाँधी सोहनलालजी हीरालालजी कलिंजरा	५००
कुल योग	२१,१००

प्रकाशकीय

(हिन्दी का चतुर्थ संशोधित संस्करण)

जैनसमाज के मूर्धन्य विद्वान् पंडित रतनचन्दजी भारिल्ल की नवीनतम कथा कृति 'इन भावों का फल क्या होगा' का तीसरा संस्करण भी प्रथम-द्वितीय संस्करण की भाँति तीन माह में ही समाप्त हो गया। अत: इस चतुर्थ संस्करण को पुन: तीन माह में ही प्रकाशित करते हुए हमें हार्दिक प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है।

उपन्यास शैली में लिखी गई यह कृति 'ध्यान' को केन्द्रित करके लिखी गई है। पात्रों के चरित्र-चित्रण तथा कथोपकथन का केन्द्रबिन्दु मुख्यरूप से ध्यान ही है। इसकी विषयवस्तु पाठकों को पाप भावों से तो सुरक्षा प्रदान करेगी ही; साथ ही नैतिक जीवन जीने और धर्मध्यान करने का मार्ग भी प्रशस्त करेगी।

प्रस्तुत कृति के माध्यम से लेखक ने उन आत्मघाती एवं कुगति के कारणभूत आर्त-रौद्र भावों का अहसास कराने का सफलतम प्रयास किया है जो आस्तीन के साँप बनकर अपने अन्तर में ही निरन्तर वर्त रहे हैं एवं पल-पुस रहे हैं।

कृति 'यथा नाम तथा गुण' वाली कहावत को चरितार्थ करती हुई प्रतीत होती है। पाठकों की सुसुप्त चेतना को जागृत कर देनेवाली यह कथा कृति नाम के अनुरूप ही विभिन्न पात्रों के चरित्रों द्वारा समस्त सांसारिक जीवों के वर्तमान में हो रहे आर्त-रौद्र ध्यानों का एवं उनके दु:खद परिणामों का आभास कराते हुए उनसे बचने के उपायों का दिग्दर्शन इतने रोचक ढंग से कराती है कि पाठक प्रभावित हुए बिना नहीं रहते।

जैसाकि सर्वविदित ही है कि आधुनिक युग में नैतिक चेतना जागृत करने के लिए कथा साहित्य सर्वाधिक प्रभावी एवं सशक्त माध्यम है। इस शैली में लिखा गया साहित्य बच्चों को तो रोचक लगता ही है, युवा पीढ़ी एवं बुजुर्ग व्यक्ति भी कथा साहित्य को एक बार पढ़ना प्रारंभ करते हैं तो पूरी पढ़े बिना नहीं छोड़ते।

'इन भावों का फल क्या होगा' नाम पढ़ते ही पाठकों के मन में एक जिज्ञासा जगती है कि लेखक प्रस्तुत पुस्तक में किन भावों की चर्चा करना चाहते हैं ?

पुस्तक की विषयवस्तु के सम्बन्ध में लेखक ने स्वयं ही 'आत्मकथ्य' में संक्षिप्त संकेत दे दिया है।

लेखक के विषय में भी हम अधिक क्या लिखें? घर-घर में पढ़ी जाने वाली आपकी कृतियाँ ही आपके व्यक्तित्व, कर्त्तृत्व एवं विचारों का परिचय दे रही हैं।

संस्कार, विदाई की बेला, णमोकार महामंत्र, सामान्य श्रावकाचार, जिनपूजन रहस्य जैसी अनुपम कृतियाँ आपकी ही देन हैं। इन कृतियों के हिन्दी, गुजराती, मराठी एवं कन्नड़ भाषाओं में अनेकानेक संस्करण पाठकों के हाथों में पहुँच चुके हैं।

समयसारादि ग्रन्थों पर हुये पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के प्रवचनों का ३ हजार से भी अधिक पृष्ठों में आपके द्वारा किया गया गुजराती से हिन्दी अनुवाद प्रवचनरत्नाकर भाग १ से ८ तक तथा भक्तामर प्रवचन, समाधि तंत्र प्रवचन के रूप में प्रकाशित हो चुके हैं।

बिना किसी झंझट में उलझे निरंतर साहित्य सेवा में लगे रहने से पण्डित रतनचंदजी भारिल्ल स्वयं तो अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग द्वारा सातिशय पुण्य का काम कर ही रहे हैं, अध्यात्मप्रेमियों को भी भरपूर लाभ दे रहे हैं।

इस कृति के सृजन हेतु आप निश्चय ही बधाई के पात्र हैं। आप पूर्ण निरपेक्ष भाव से बिना किसी ख्याति-लाभ की अपेक्षा रखे जैन साहित्य की सेवा कर रहे हैं, एतदर्थ आपका जितना भी उपकार माना जाय, कम ही होगा।

प्रस्तुत प्रकाशन की कीमत कम करने में हमें जिन महानुभावों का आर्थिक सहयोग प्राप्त हुआ है, उनके हम हृदय से आभारी हैं।

जयपुर प्रिन्टर्स प्रा. लि., जयपुर को इस पुस्तक के इतने सुन्दर रूप में मुद्रण करने के लिए हार्दिक धन्यवाद दिये बिना नहीं रहा जाता। सदा की भाँति प्रकाशन व्यवस्था का दायित्व हमारे प्रकाशन विभाग के प्रभारी श्री अखिल बंसल ने बखूबी निभाया है; अत: वे भी धन्यवाद के पात्र हैं।

हमें पूर्ण विश्वास है कि प्रस्तुत कृति भी लेखक की अन्य कृतियों की भाँति ही पठन-पाठन में आयेगी। तीन माह में ही यह हिन्दी भाषा का चतुर्थ संस्करण इसकी लोकप्रियता को सिद्ध करने के लिये पर्याप्त है।

ज्ञातव्य है कि यह लोकप्रिय कृति गुजराती एवं मराठी में भी अनूदित होकर प्रकाशित हो चुकी है।

नेमीचन्द पाटनी

१ फरवरी, १९९७

महामंत्री, पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट,

ए-४, बापूनगर, जयपुर ३०२०१५

समर्पण

प्रस्तुत कृति 'इन भावों का फल क्या होगा' का मूल उद्गम स्रोत आचार्यकल्प पण्डित प्रवर श्री टोडरमलजी के अनुपम ग्रन्थ मोक्षमार्गप्रकाशक की वे मार्मिक पंक्तियाँ हैं, जिन्होंने मुझे उन्हीं पंक्तियों की विषयवस्तु को उपन्यास का रूप देने के लिये प्रेरित किया है।

ग्रन्थ की मूल पंक्तियाँ इसप्रकार हैं -

"भली होनहार है इसलिये जिस जीव को ऐसा विचार आता है कि मैं कौन हूँ ? मेरा क्या स्वरूप है ? यह चरित्र कैसे बन रहा है ? ये मेरे भाव होते हैं, इनका क्या फल लगेगा ? जीव दुःखी हो रहा है सो दुःख दूर होने का क्या उपाय है ? मुझको इतनी बातों का निर्णय करके जिससे मेरा हित हो सो करना ..."

इस परोक्ष प्रेरणा के लिये मैं पूज्य पण्डित टोडरमलजी का हृदय से कृतज्ञ हूँ। एतदर्थ इस कृति के रूप में उनकी मूल विषयवस्तु उन्हीं के लिये समर्पित करता हूँ।

- लेखक

एक प्रेरक पत्र

Dr. Vishnu Saxena
GENERAL PHYSICIAN

DAYAL CLINIC : TAHSIL ROAD
SIKANDRA RAO (ALIGARH) 204215
STD CODE : 05725 PHONE : 44380

श्रद्धेयास्पद

चरणवन्दन।

मेरे 'चरणवन्दन' लिखने पर आप अवश्य विस्मित होंगे। लेकिन आप मेरे लिये सर्वथा वन्दनीय इसलिये हैं कि एक तो आप मेरी पिता की आयु के हैं, दूसरे योग्यता में भी मुझ नगण्य से कई गुना अधिक हैं।

शायद आपको ध्यान हो मेरी आपकी भेंट गतवर्ष मेरठ में शाकाहार मेले में आयोजित कविसम्मेलन मंच पर हुयी थी। मैं भी एक कवि के रूप में बैठा था; तब आपने हम सभी कवियों को अपनी लिखी हुयी कुछ पुस्तकें भेंट की थीं।

उन पुस्तकों को लाकर मैंने अपनी लाइब्रेरी में सजा दिया। सोचा कभी फुरसत होगी तो पढ़ूँगा। कवि सम्मेलनीय तथा चिकित्सकीय व्यस्तताओं में वर्ष भर उलझा रहा, बरसात में मैंने आपकी उन किताबों का अध्ययन किया। एक तो अभी भी बढ़ रहा हूँ।

पुस्तकें क्या हैं ! ये तो ज्ञान का सहज भंडार हैं। मैं तो जैनदर्शन से पहले से भी प्रभावित था। आपकी पुस्तकें पढ़ने के उपरान्त तो यह आस्था और अधिक बलवती हो गयी है। सभी पुस्तकें अत्यधिक सरल भाषा में लिखी गयी हैं। जो जनसामान्य को भी संस्कारित करती हैं। जैन साहित्य के लिये आपकी ये पुस्तकें एक अनमोल निधि हैं। मैं कायस्थ कुल में पैदा अवश्य हुआ हूँ; लेकिन आरम्भ से ही कुछ ऐसा प्रभाव रहा कि कोई व्यसन पास नहीं आ सका।

आपके इस सद्‌लेखन के लिये, आपको बधाई। 'संस्कार', 'विदाई की बेला', बहुत ही प्रेरणादायी हैं। आदरणीय हुकमचंद भारिल्लजी की 'आप कुछ भी कहो' ने भी पूरे परिवार को झकझोर दिया। उन्हें भी मेरी बधाई प्रेषित कर दें।

आभार, शुभम्
आशा है, सानन्द होंगे

आपका ही.....
(डॉ. विष्णु सक्सेना), २४.८.९६

प्रति,
विद्वत्वरेण्य पण्डित रतनचंदजी भारिल्ल
प्राचार्य, श्री टोडरमल दि. जैन सिद्धान्त महाविद्यालय, जयपुर

आत्मकथ्य

इष्टानिष्ट मिथ्याकल्पनायें करते,
शोक संतप्त रहते;
दैहिक दु:ख सहते,
विषय सुख की कामनायें करते;
जो हमारे दिन वीते हैं,
निराकुल सुख से रहे रीते हैं;
यह आर्त ध्यान है।
दु:ख की खान है॥

दिन-रात रोते-रोते,
मोह नींद में सोते;
दु:ख के बीज बोते,
राग-द्वेष की कालिख पोते;
हम जो अहर्निश माथा धुनते हैं,
तिर्यंच गति का ताना-बाना बुनते हैं;
यह आर्त ध्यान है।
विकृत मनोविज्ञान है॥

स्व-पर प्राण हनते,
असत् प्रलाप करते;
पराया धन हड़पते,
विषयों में रत रहते;
हम जो आनन्द अनुभव करते हैं,
पाप-पंक में फंसते हैं:
यह रौद्र ध्यान है
दु:खद दुर्ध्यान है

विकथायें कहते-सुनते,
राग-रंग में रमते;
मोह-मद पीते,
सुखाभास में जीते;
हंसते-हंसाते हम जो हर्षित होते हैं,
मानव जीवन यों ही खोते हैं;
यह रौद्र ध्यान है।
नरक-निदान है॥

सचमुच, क्या हम पशुओं से गये बीते हैं ?
बुद्धिबल से बिल्कुल रीते हैं?
नहीं, अनन्तसिद्धों को देखो न !
जिन्होंने काम-क्रोध जीते हैं,
कौन कहता है हम अधूरे हैं;
हम तो अनन्त गुणों से भरे-पूरे हैं।
बिन तरासे चैतन्य हीरे हैं।
तरासने की तैयारी कर रहे धीरे-धीरे हैं॥

पहन रखा था हमने अब तक,
एकत्व-ममत्व-कर्तृत्व का चोगा;
इसी कारण अब तक,
चतुर्गति का दुःख भोगा;
इन्हीं भूल-भुलैयों में भटककर,
खाते रहे धोखा ही धोखा;
यह भी नहीं समझ पाये कि -
इन भावों का फल क्या होगा ?

- रतनचन्द भारिल्ल

१

एक बारह वर्षीय बालक धर्मेश जब अपनी नियमित दिनचर्या के अनुसार यथासमय धुली हुई धवल धोती पहने और केसरिया उत्तरीय ओढ़े, बगल में पूजन की पुस्तक दबाये, छोटी सी थाली में अष्टद्रव्य संजोये, थिरकते होठों से '**दृष्टं जिनेन्द्रभवनं भवतापहारी**...' स्तोत्र गुनगुनाता जिनमन्दिर जाता था तो उसके पिता फूले नहीं समाते थे।

अड़ौसी-पड़ौसी और मुहल्ले वाले भी उस मनमोहक किशोर के चित्ताकर्षक बाह्य व्यक्तित्व को स्नेह भरी दृष्टि से देख मन ही मन हर्षित तो होते ही, हाथ जोड़कर 'भगतजी जयजिनेन्द्र ! पण्डितजी पायलागन' कह-कहकर अपना और अपने साथियों का मनोरंजन भी करते।

धर्मेश भी नि:संकोच भाव से मन ही मन मुस्कुराता और एक क्षण ठिठक कर महात्मा बुद्ध जैसी आशीर्वाद मुद्रा में हाथ ऊँचा करके उनके अभिवादन का मौन उत्तर देता हुआ आगे बढ़ जाता। मानो उसने उन्हें धर्मवृद्धि का आशीर्वाद दिया हो।

यह एक दिन की बात नहीं, बल्कि उसकी दैनिक-चर्या का अभिन्न अंग बन गया था; जिसे वह पिछले कई वर्षों से बराबर निभा रहा था।

इस युवावस्था में भी धर्मेश की इस धार्मिक प्रवृत्ति को देखकर लोग उसकी प्रशंसा करते नहीं थकते। एक दिन गाँव की मुख्य बैठक में उसकी बात चल पड़ी। एक समझदार-सा लगने वाला व्यक्ति बोला -

"यह भव्यजीव पिछले जन्म का कोई महान् आत्मा होगा, जो इस जन्म में ऐसे धार्मिक संस्कार लेकर आया है। अभी उम्र ही क्या है, **फिर** भी कितना गंभीर व्यक्तित्व दिखाई देता है। इन लक्षणों से तो ऐसा लगता है कि होकर जरूर कोई ज्ञानी-ध्यानी बड़ा व्यक्ति बनेगा।"

दूसरा वृद्ध बोला - "अरे भाई ! भले ही यह भव्यजीव उम्र से छोटा है; पर इसका आत्मा तो अनादि का है न ? पिछले जन्म का संस्कारी तो लगता ही है, इस जन्म में भी इसको इसके पिता से धार्मिक संस्कार मिले हैं।

शायद आपको पता नहीं, इसके पिता भी इसी की तरह बचपन से ही पूरे भगतजी हैं भगतजी ! वे भी कुछ दिन पहले तक प्रतिदिन पूजा-पाठ किया करते थे। पाँच वर्ष की उम्र से, जबसे उन्होंने इसकी स्कूल में पट्टी-पूजा कराई, तब से वे इसे भी प्रतिदिन अपने साथ पूजन करने को मन्दिर ले जाया करते थे। अब तो वे बेचारे पारिवारिक प्रतिकूलताओं में ऐसे उलझ गये कि कुछ मत पूछो। उनका सब धर्म-कर्म एक तरफ धरा रह गया। बेचारे को उद्यापन कराके पूजा-पाठ से भी छुट्टी लेनी पड़ी।

यद्यपि उन्हें धर्म का ज्ञान तो विशेष नहीं था, पर भावना बहुत ऊँची थी। उनका मानना था कि धर्म आचरण से ही मनुष्य जीवन और पशु जीवन में अन्तर देखा जा सकता है; अन्यथा आहार, निद्रा, भय व मैथुन तो पशु और मनुष्य में समान ही होते हैं। धर्म की महिमा गाते हुये वे बड़े गर्व से कहा करते -

धरम करत संसार सुख, धरम करत निर्वाण !
धरमपन्थ साधे बिना, नर तिर्यंच समान ॥

बस, इसी मान्यता से वे श्रावक के षट् आवश्यक कर्त्तव्यों का पालन करना अपना धर्म मानते थे और यही प्रेरणा वे अपने पुत्र धर्मेश को दिया करते थे। मौके-मौके पर वे आगन्तुक अतिथि विद्वानों के प्रवचन सुनने से भी नहीं चूकते। भले ही समझ में आये अथवा न आये, पर सुनते अवश्य थे।

वे कहा करते - अरे भाई ! जितनी देर प्रवचन में बैठे रहते हैं, उतनी देर तक पाप प्रवृत्ति से तो बचे ही रहते हैं। विषय जितना जो पल्ले पड़ा, वही ठीक।

इसी विचार से वे जीवनभर धर्म आचरण करते रहे। पर पत्नी के पक्षाघात से पीड़ित हो जाने के कारण वे पारिवारिक प्रतिकूल परिस्थितियों में ऐसे उलझे कि प्रतिदिन पूजा-पाठ तो दूर, अब तो उन्हें समय पर देवदर्शन भी दुर्लभ हो

गये हैं। पर पिता की प्रेरणा से और पड़ौसियों की प्रशंसा से प्रोत्साहन पाकर धर्मेश पिछले-८ वर्ष से प्रतिदिन पूजा-पाठ करने के नियम का निर्वाह दृढ़ता से करता आ रहा है।"

उसकी बात समाप्त भी न हो पायी थी कि धर्मेश का साथी एक युवक बोला - "आपका कहना तो सही है; पर शायद आपको यह पता नहीं है कि आजकल उसमें वैसा उत्साह नजर नहीं आता जैसा पहले रहा करता था। आजकल वह प्राय: विचारों में डूबा रहता है।"

वस्तुत: बात यह थी कि धर्मेश की ज्यों-ज्यों समझ बढ़ती गई, त्यों-त्यों उसे अपनी अज्ञानता का आभास होने लगा। इसी कारण उसके मन में पूजन सम्बन्धी अनेक प्रश्न उठने लगे थे।

जिस क्रियाकाण्ड को वह अब तक धर्म मानकर करता आ रहा था; उसके सम्बन्ध में उसके चित्त में अनेक प्रश्न खड़े होने लगे थे।

वह सोचता - किसान खेत में बीज बोता है तो उसे अधिकतम छह माह में कई गुना अनाज प्राप्त हो जाता है, माली बगीचे में वृक्ष व लतायें लगाता है तो उसे भी उनसे दो-चार वर्ष में सुगंधित पुष्प और सुमधुर फल मिलने लगते हैं, पर मैं तो पाँच वर्ष की उम्र से, पिछले पन्द्रह वर्षों से धर्म-ध्यान की खेती कर रहा हूँ, पूजा-भक्ति के जल से उसे सींच रहा हूँ, सदाचार रूपी रखवालों से उसकी सुरक्षा की पूरी व्यवस्था भी कर रखी है; परंतु प्रशंसा, प्रोत्साहन और पुरस्कार के घास-फूस के सिवाय सच्ची समता, शान्ति और निराकुल सुखस्वरूप धर्मवृक्ष का अंकुर भी तो नहीं उगा। धर्म का फल तो समता, शान्ति, निराकुलता ही है न ? इस दृष्टि से तो मेरे जीवन की जमीन बंजर ही दिखाई देती है। मेरे पिताश्री ने भी जीवनभर पूजा की, पर उनकी परिणति में तथा पारिवारिक परिस्थितियों में भी कोई अनुकूलता दिखाई नहीं दे रही है; जबकि उन्हीं के कहे अनुसार धर्म का फल तो तत्काल मिलता है; [illegible] भी कुछ भी हाथ नहीं लगा। पर यह सब क्यों हुआ ? कैसे हु

धर्मेश के मन को एक प्रश्न यह भी कचोटता रहता है कि जैनदर्शन की मान्यता के अनुसार जब भगवान वीतरागी होने के कारण पूजक और निन्दक पर तुष्ट-रुष्ट होकर किसी का भला-बुरा करते ही नहीं हैं, राग-द्वेष रहित होने से किसी को कुछ देते-लेते भी नहीं हैं; तो फिर उनकी पूजन-अर्चन करने का प्रयोजन ही क्या रह जाता है ?

न तो पूज्य परमात्मा को ही भक्तों की भक्ति-पूजा से कोई प्रयोजन है और न पूजक को ही उनसे कुछ मिलता है, तो ऐसी पूजा से क्या लाभ ?

इनके सिवाय और भी अनेक छोटे-मोटे प्रश्न धर्मेश के चित्त को आन्दोलित करते रहते थे। जैसे कि -

जब सिद्ध भगवान हमारे आह्वान पर लोकान्त से यहाँ आते ही नहीं हैं तो फिर उनका आह्वानन, स्थापन एवं सन्निधिकरण हम क्यों करते हैं ?

जब पूज्य परमात्मा सर्वज्ञ व सर्वदर्शी हैं, हमारे मन में स्थित सब बातों को, हमारी भक्ति-भावना को, मनोगत कामनाओं को भी भली-भाँति जानते ही हैं; तो फिर उनके सामने अपने दुःख-दर्द कहने और उनके गुणगान करने का क्या औचित्य रह जाता है?

जब वे पूर्ण अस्नान व्रत लेकर मुनि हुए और पूर्ण पवित्र होकर मोक्ष पधारे तो उनके अभिषेक की भी क्या उपयोगिता है ?

जब वे भूख-प्यास आदि सभी दोषों से रहित हैं, तो नाना प्रकार के नैवेद्य से उन्हें क्या प्रयोजन ? फिर अष्ट द्रव्यों से उनकी पूजा क्यों ?

जब हमारे आह्वान पर भगवान आये ही नहीं, जहाँ कुछ सर्जन ही नहीं हुआ हो, वहाँ विसर्जन कैसा ?

- ऐसे एक-दो नहीं, अनेक प्रश्न उसके मन में उठते हैं, जिनका समाधान उसे नहीं मिलता।

ये अकेले एक धर्मेश की ही समस्यायें नहीं थीं, आज धर्मेश जैसे न जाने कितने नवयुवकों के मन में ये ज्वलन्त प्रश्न उठते होंगे, जिन्हें वे विविध कारणों

वश व्यक्त नहीं कर पाते। अनेक व्यक्तियों में तो अपने मन के भावों को वाणी से व्यक्त करने की योग्यता ही नहीं होती। जिनमें योग्यता होती भी है, उनमें ऐसी हिम्मत नहीं होती कि वे अपने बुजुर्गों के सामने प्रचलित धार्मिक रीति-रिवाजों पर प्रश्नचिन्ह लगा सकें।

यदि कदाचित् कोई साहस जुटा भी ले तो प्रथम तो उसे आतंकित करके चुप ही कर दिया जाता है। यदि कोई अधिक ही अड़ियल या मुँहबोला हुआ तो उसे नास्तिक है, मूर्ख है, धर्म में कुछ समझता तो है नहीं, आदि कहकर उपेक्षित कर दिया जाता है।

पर, धर्मेश के साथ ऐसा नहीं हुआ; क्योंकि उसने औरों की भाँति अश्रद्धापूर्वक तर्क-वितर्क नहीं किए, बल्कि उनके समाधान के लिये सतत् प्रयत्नशील रहा और उसने पूजा-पाठ करना भी नहीं छोड़ा।

पूर्ववत् अपनी सब धार्मिक क्रियायें करते हुए उसने जिज्ञासा की भावना से अपनी शंकाओं का समुचित समाधान पाने के लिए विशेषज्ञ विद्वानों से सम्पर्क साधने का निश्चय किया; क्योंकि वह जानता था कि भले ही अभी मेरी समझ में नहीं आ रहा है; पर पूजन एवं व्रत-उपवास आदि धार्मिक क्रियाओं में कोई विशेष रहस्य अवश्य है। इतनी प्रचलित और प्राचीन पूजनपद्धति और धर्म की क्रियायें सर्वथा निरर्थक नहीं हो सकतीं।

धर्मेश के तर्कसंगत और विचारणीय प्रश्नों की भनक जब उसके पिता के कान में पड़ी तो उनके मन में यह भय समा गया कि इसकी ऐसी अश्रद्धा से कहीं कोई कुलदेवता अथवा भगवान नाराज न हो जायें। धर्मेश के पिता धर्मभीरु तो थे ही, मन ही मन अपने इष्टदेव को स्मरण कर प्रार्थना करने लगे -

"प्रभो ! अभी धर्मेश बीस-इक्कीस वर्ष का बच्चा ही तो है, अ[illegible] कितनी है उसमें अभी। अतः आप उसे नादान समझकर क्षमा कर दे[illegible] तो आप जानते ही हैं कि वह अश्रद्धालु नहीं है, उदण्ड और [illegible] नहीं है; पर वह विचारशील बहुत है, एक-एक बात पर बहुत ब[illegible]

सोचता रहता है, जबतक उसे जँचे नहीं, तबतक किसी के कहने मात्र से माननेवाला नहीं है। अत: उसकी शंकाओं का समाधान तो किसी तरह होना ही चाहिए; अन्यथा वह धर्म मार्ग से भटक भी सकता है।''

वे बेचारे यह नहीं समझते थे कि जिनदेव तो वीतरागी होने से किसी की प्रार्थना से प्रसन्न एवं निन्दा से नाराज नहीं होते।

यह बात जुदी है कि जो उन वीतरागी देव के पवित्र गुणों का स्मरण करता है, उसका मलिन मन स्वत: निर्मल हो जाता है, उसके पापरूप परिणाम स्वत: पुण्य व पवित्रता में पलट जाते हैं। अशुभ भावों से बचना और मन का निर्मल हो जाना ही जिनपूजा का, जिनेन्द्र भक्ति का सच्चा फल है।

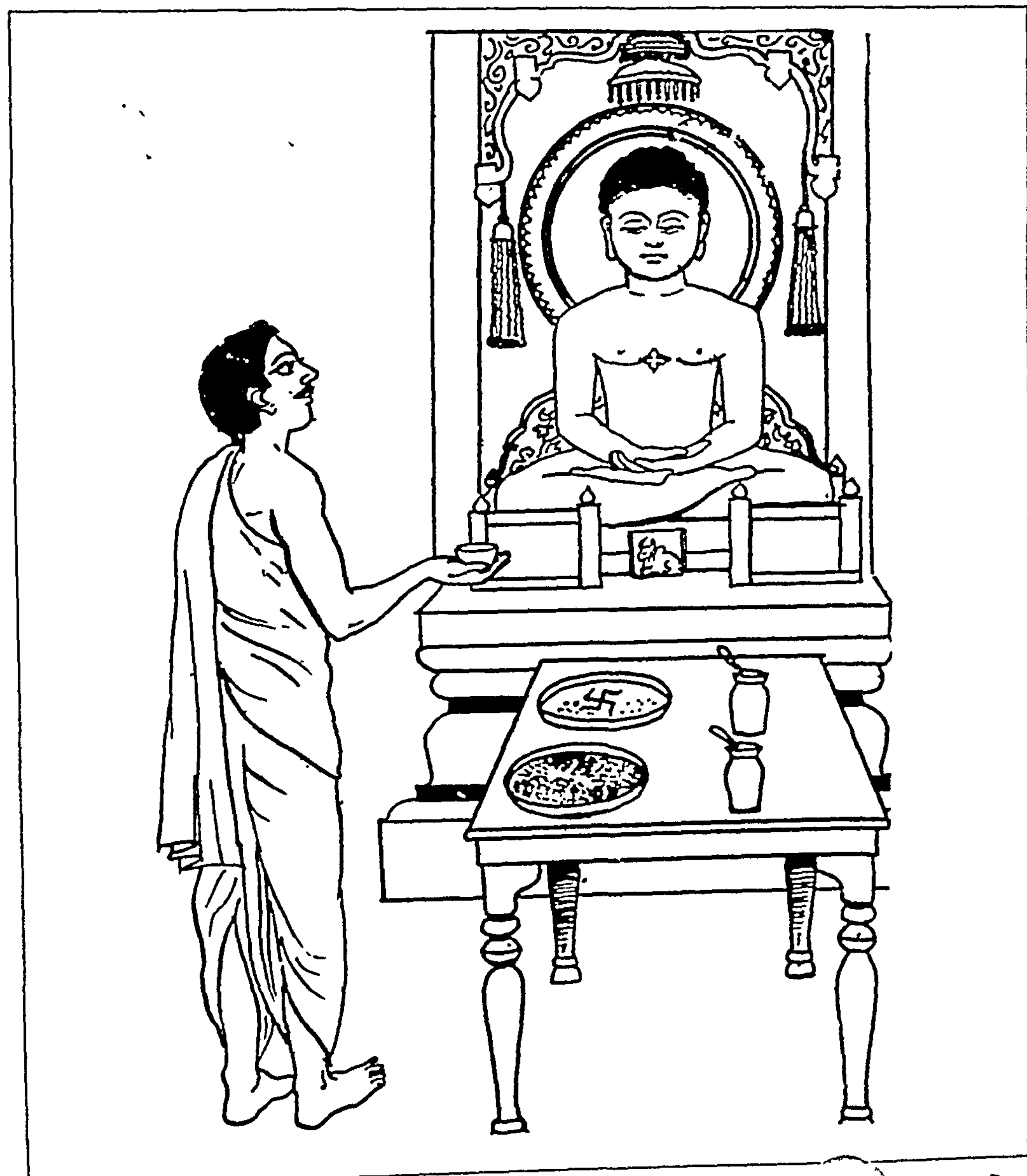
ज्ञानी धर्मात्मा लौकिक फल की प्राप्ति के लिए पूजन-भक्ति नहीं करते। वे तो जिनेन्द्रदेव की मूर्ति के माध्यम से निज परमात्म स्वभाव को जानकर, पहिचानकर, उसी में जम जाना, रम जाना चाहते हैं। ऐसी भावना से ही एक न एक दिन भक्त स्वयं भगवान बन जाता है।

इस बात से धर्मेश के पिताश्री तो क्या, धर्मेश स्वयं भी अनजान ही था।

उस समय धर्मेश भी यह नहीं जानता था कि - **जिनेन्द्र भगवान न किसी का भला-बुरा करते हैं और न कर ही सकते हैं; क्योंकि जैनदर्शन अकर्तावादी दर्शन है। इसके अनुसार कोई किसी के सुख-दुःख का, लाभ-हानि का, जीवन-मरण का कर्ता-धर्ता नहीं है।**

धर्मेश अभी भी जैनदर्शन के इन सूक्ष्म सिद्धान्तों के बारे में कुछ नहीं समझता है। तत्त्वज्ञान के विषय को सुनने-समझने का उसे अभी अवसर ही कहाँ मिला, जिससे वह कुछ जान पाता ? उसके नगर में न कोई वीतराग-विज्ञान पाठशाला थी और न नियमित स्वाध्याय की परम्परा ही। बस, पूजन-पाठ तक ही उसका धर्म-कर्म सीमित था। वह सीखता भी कहाँ से?

धर्मेश के मन में धीरे-धीरे धर्म का स्वरूप और उसके साधनों का औचित्य जानने की जिज्ञासा बढ़ती ही चली गई। एतदर्थ वह स्वतंत्र स्वाध्याय तो करने ही लगा, दूसरों के अनुभवों का लाभ लेने के प्रयास में भी रहता। पर वह पढ़ी-सुनी बातों को आँख मींच कर माननेवालों में नहीं था। उन पर मन ही मन खूब ऊहापोह करता। आवश्यकतानुसार नियमपूर्वक तत्त्वचर्चा, शंका-समाधान भी करता/कराता। परन्तु अभी तक उसे कहीं से भी, कुछ भी संतोषजनक समाधान नहीं मिला। फिर भी उसने अपनी धार्मिक दिनचर्या पूर्ववत् चालू रखी और सही समाधान पाने के प्रयत्न भी चालू रखे। •



२

धर्मेश और अमित एक ही मुहल्ले के रहनेवाले थे। एक ही साथ खेले और मैट्रिक तक एक ही स्कूल में साथ-साथ पढ़े थे। बचपन में दोनों की दाँत-काटी रोटी थी। संयोग से दोनों की संस्कृति, धर्म व जाति भी एक ही थी। दोनों एक-दूसरे के लिए अपनी जान देते थे और एक-दूसरे का वियोग दोनों को बर्दाश्त नहीं था। पर न जाने क्यों ? किशोरवय में कदम रखते-रखते दोनों की विचारधारा में पूर्व-पश्चिम जैसा महान् अन्तर आ गया।

धर्मेश ने तो मैट्रिक के बाद पढ़ना ही छोड़ दिया और अमित कॉलेज ऐजूकेशन में चला गया। अमित ने कॉलेज की पढ़ाई तो मन लगाकर पूरी कर ली; पर वह धीरे-धीरे भौतिकता की चकाचौंध में अधिक उलझ गया। इसकारण अब उसे धनार्जन करने के लिए चौबीस घंटे भी कम पड़ने लगे।

धर्मेश न जाने किस मिट्टी का बना था ? वह भौतिक वातावरण से अप्रभावित तो रहा ही, अपने पिता के कुलधर्म के प्रभाव से भी अछूता रहा। वह निष्पक्ष होकर निरन्तर सच्चे धर्म की तह तक पहुँचने के प्रयास में लगा रहा।

धर्मेश के पिता न तेरापन्थी थे और न बीसपन्थी। उनका अपना अलग ही पन्थ था, जिसे कुलपंथ कह सकते हैं। वे अपने कुलपंथ के प्रति कट्टर थे, उन्हें कोई जीवनभर उनके कुलपंथ से हिला नहीं सका। उनका कहना था -

"फैशन के मामले में दुनिया कहाँ से कहाँ पहुँच गई। पगड़ी गई, साफा आया; साफा गया, टोपी आई; टोपी भी गई, नंगा सिर रह गया; नंगे सिर वालों ने भी नित्य नये आकार बदले; कभी हिप्पीकट तो कभी सफाचट। पर सच्चे सिक्ख ने न पगड़ी छोड़ी और न जूड़ा छोड़ा। सच्चे मुसलमान ने भी लम्बी दाढ़ी और गोल टोपी नहीं छोड़ी। इसीतरह हमारे जैनकुल के भी कुछ सिद्धान्त

हैं, धर्म के कुछ नियम हैं। हम उन्हें क्यों छोड़ें ? धर्म तो सदैव क्षेत्र व काल के प्रभाव से अप्रभावित रहा है, अछूता रहा है।''

पिता के इन विचारों के संदर्भ में धर्मेश का यह कहना था कि दृढ़ता से धार्मिक नियमों का निर्वाह करना बहुत अच्छी बात है। इस अर्थ में कट्टरता बुरी बात नहीं है; पर वह कट्टरता सुपरीक्षित एवं सुविचारित होनी चाहिए; अन्यथा सुधार की संभावनायें सम्पूर्णतः क्षीण हो जायेंगी। बिना परीक्षा किये, बिना विचार किये किसी भी कुल परिपाटी को धर्म मानकर बैठ जाना और उससे टस से मस न होना - यह भी तो कोई धर्म का मार्ग नहीं है। पर ऐसे कट्टरपंथियों को कौन समझाये, जो किसी की कुछ सुनना ही नहीं चाहते, अपनी लीक से हटना ही नहीं चाहते ?

धर्मेश के पिता भी इन्हीं कट्टरपंथियों में से एक थे, जिन्हें धर्म-कर्म में मीन-मेख करना बिल्कुल पसंद नहीं था। इस मामले में धर्मेश व उसके पिता कभी एकमत नहीं हो पाये; फिर भी धर्मेश ने पिता की मान-मर्यादा का कभी उल्लंघन नहीं किया।

धर्मेश के पिता ने धर्मगुरुओं से यह सुन रखा था कि धर्म के मामले में मीन-मेख करने एवं शंका-आशंका प्रगट करने से अनर्थ हो जाता है, पाप भी लगता है। इसकारण उनकी धारणा बन गई थी कि धर्म तो श्रद्धा-भक्ति का विषय है, उसमें तर्क-वितर्क करना ही क्यों ?

धर्मेश का पूरा परिवार धर्मभीरु था, इसकारण कुल परम्परागत लीक छोड़कर चलना तो दूर, धर्म के बारे में कुछ कहना-सुनना, पूछना-ताछना भी उनके बलबूते की बात नहीं थी। वे धर्म से अत्यधिक आतंकित थे। उन्हें डर लगता था कि उनका कोई व्यवहार देवी-देवताओं और भगवान की असंतुष्टि का कारण न बन जाये, उनके किसी व्यवहार से देवी-देवता नाराज न हो जायें। उनका इसप्रकार का धर्माचरण वीतरागी देव-शास्त्र-गुरु में श्रद्धा रखनेवाले और हर बात को तर्क की कसौटी पर कसनेवाले धर्मेश को रास नहीं आया।

धर्मेश के पिता अपनी कमजोरी को छिपाने के लिए बड़े गर्व से कहा करते ''तत्त्वों की बातें हमारी समझ में भले न आएँ, पर हम धर्मकार्यों में कभी पीछे

नहीं रहे। हमने अपनी पीढ़ियों से चली आई धार्मिक परम्पराओं को कभी नहीं छोड़ा। यही कारण है कि भगवान की कृपा से आज हमारा खानदान सब तरह से सम्पन्न है, सदाचारी है; अन्यथा बर्बाद होने में देर ही क्या लगती है ? प्रभु की वक्रदृष्टि और एक-एक दुर्व्यसन पूरे परिवार को बर्बाद कर देता है।''

यद्यपि इस धर्मभीरुता के कारण उनके पूरे परिवार का जीवन सदाचारी रहा। यहाँ तक तो कोई बात नहीं; पर केवल इस कुलाचाररूप बाह्य धर्मप्रवृत्ति को ही धर्म मानकर जो वे मन ही मन संतुष्ट हो लेते और स्वयं को धर्मात्मा मानकर प्रसन्नता का अनुभव करते, गौरवान्वित होते - यह बात धर्मेश की अन्तरात्मा को स्वीकृत नहीं होती। अत: उसने संकल्प किया कि वह पिताजी के विचारों से भी अप्रभावित रहकर धर्म की सच्चाई की तह तक पहुँचने का पूरा-पूरा प्रयास करेगा।

धर्मेश बिना सोचे-विचारे परम्परागत लीक पर चलने वालों में नहीं था। **लीक छोड़कर चलत हैं शायर सिंह सपूत** की उक्ति के अनुसार धर्मेश का यह सोचना उचित ही था।

वह सोचता था कि यद्यपि यह कुलाचाररूप व्यवहारधर्म का निर्वाह सदाचार के संस्कारों को सुरक्षित रखने के लिए ठीक है, परन्तु प्रत्येक कुल का, प्रत्येक जाति का धर्म अलग-अलग कैसे हो सकता है ? धर्म का स्वरूप तो एक ही होना चाहिए और वह भगवान कैसे हो सकता है, जो साधारणजन की भाँति ही राग-द्वेष के वशीभूत होकर भक्तों की जरा-जरासी बात पर रुष्ट-तुष्ट हो जाता है।

जब दो-चार रुपयों की मिट्टी की हाँडी भी ठोक बजाकर खरीदते हैं तो यह तो जन्म-जन्मान्तर के सुख-दु:ख का सवाल है, अनन्त संसार-सागर के दु:ख से पार होने का प्रश्न है; इसे बिना परीक्षा किए, बिना सोचे-विचारे यों ही आँख मींचकर कैसे अपनाया जा सकता है ? यह मनुष्य जन्म और उसमें भी ऐसे सुन्दर संयोग कोई बार-बार थोड़े ही मिल जाते हैं। न जाने किस जन्म का पुण्य फला होगा, जो यह सुअवसर हाथ आ गया है। सचमुच यह अंधे

के हाथ में बटेर आ गई है। इसका तो पूरा-पूरा लाभ उठाना ही होगा। क्या धरा है इस दुनियादारी के चक्कर में ?

धर्म से भय कैसा ? धर्मभीरुता ही तो व्यक्ति को धर्मान्ध बनाती है। अत: कोई कुछ भी क्यों न कहे - एकबार तो शान्ति से ऊहापोह करके धर्म एवं पुण्य-पाप की तह तक पहुँचना ही होगा। धर्म के तलस्पर्शी ज्ञान बिना ऊपर-ऊपर से धर्मात्मा बने रहना अपने को अन्धकार में रखना है।

संभव है, सच्चाई को पहचानने में जाने-अनजाने में कभी हमारी किसी पीढ़ी से भूल-चूक हो गई हो और हम उसी लकीर के फकीर बने रहें - यह भी तो कोई समझदारी नहीं है। वाह ! जितने कुल, जितनी जातियाँ, जितने व्यक्ति; उतने धर्म ? यह सब क्या है ? वे धर्मगुरु, जिन्होंने पाप का डर दिखाकर अनर्थ होने की आशंका से सबको आतंकित कर रखा है, वे भी हम तुम जैसे ही इसी पृथ्वी के इन्सान हैं, जैसे जहाँ से उन्होंने धर्म खोजा, हम भी क्यों न वैसा ही प्रयास करके देखें ? वस्तुत: मेरा मन तो यही कहता है कि धर्म का आचरण तो सुपरीक्षित ही होना चाहिए।

अमित के माता-पिता पाश्चात्य वातावरण से पूर्णत: प्रभावित तो थे ही, उसी में रच-पच भी गये थे। धर्म की बातें न उन्होंने पहले कभी सुनी, न सुनने-समझने की कोशिश ही की।

चलचित्रों में और लोक-जीवन में भी धर्म के नाम पर धंधा करनेवाले कतिपय ढोंगी धर्मात्माओं के विकृत स्वरूप को देखकर उनकी रही-सही आस्था भी धर्म पर से उठ गई थी। अब उन्हें धर्म एक ढोंग से अधिक कुछ नहीं लगता था। धर्म की बातें कल्पनालोक की कपोल-कल्पित लगने लगीं थीं।

वे अपने को बहुत बुद्धिमान पढ़ा-लिखा इन्सान मानते थे, पर उनकी पैनी बुद्धि में यह बात समझ में क्यों नहीं आयी कि चलचित्रों में तो हर बात को बढ़ा-चढ़ा कर ही प्रदर्शित किया जाता है और लोकजीवन में यदि कोई धर्म के नाम पर धोखाधड़ी करे तो इससे धर्म कपोल-कल्पित कैसे हो गया? सभी धर्मात्मा ढोंगी कैसे हो गये ?

चलचित्रों में तो पुलिस और राजनेताओं को भी अधिकतर भ्रष्ट ही दिखाया जाता है, तो क्या उस आधार पर सभी पुलिस वालों और सभी राजनेताओं को अपराधी मानकर दण्डित किया जा सकता है ? पर इतना सोचने-समझने की उन्हें फुरसत ही न थी।

बस, कमाना-खाना और मनोरंजन करना। यही भोगप्रधान भौतिक जीवन था उनका। उनके इस वातावरण के प्रभाव से उनका बेटा अमित भी नहीं बच पाया। वह भी विषयानन्दी वातावरण में रंग गया।

जहाँ एक ओर पूर्व पीढ़ी द्वारा बोया गया विषयानन्दी वातावरण का विष-बीज भोगोपभोग सामग्री का खाद-पानी पाकर अमित के जीवन में विषवृक्ष के रूप में फलने-फूलने लगा, वहीं दूसरी ओर उसके साथी धर्मेश का जीवन अपने पूर्व पर्यायगत धार्मिक सुसंस्कारों के कारण भौतिक आकर्षण और कुल धर्म की बाड़ों को तोड़ता हुआ निरंतर सत्य की शोध की ओर अग्रसर होता चला गया।

वस्तुतः संस्कारों के दो स्रोत होते हैं। एक पूर्व पर्याय से समागत और दूसरे माता-पिता कुटुम्ब-परिवार से। जिनको जीवन में धार्मिक संस्कारों का सुयोग न पूर्वजन्म में मिला हो और न माता-पिता से ही मिल रहा हो, उनके दुर्भाग्य की तो बात ही क्या करें ? उन्हें तो चारों ओर फैले भौतिकता के जाल में फंसना ही है; पर जिन्हें सौभाग्य से कभी न कभी, कहीं न कहीं से धार्मिक संस्कारों का सुयोग मिल जाता है, उनका जीवन सफल हो जाता है, धन्य हो जाता है।

यद्यपि अब धर्मेश और अमित की विचारधारा में जमीन-आसमान का अन्तर था, तथापि उनकी मित्रता अभी भी उनके वैचारिक मतभेदों से अप्रभावित रही, अछूती रही। यही कारण था कि वे एक-दूसरे को सुधारना चाहते थे।

अमित सोचता - धर्मेश की होनहार ही खोटी है। बेचारा अशिक्षित तो रह ही गया। आज के युग में हाईस्कूल एजूकेशन भी कोई एजूकेशन है? हायर

एजूकेशन के सब साधन सुलभ थे; पर उसका मन आगे पढ़ने में लगा ही नहीं। अब बेचारा दुकान पर दिन-भर गुमसुम-सा बैठा रहता है। न जाने क्या सोचता रहता है? न हँसना-खेलना, न नृत्य-गान देखना-सुनना।

आखिर ! कैसे कटेगी इसकी इतनी लंबी जिंदगी ? बेचारे का जीवन जीने का मजा ही किरकिरा हो गया।

कभी अच्छा-सा मौका देखकर उससे बात करूँगा। देखता हूँ क्या हो सकता है ? बेचारा असमय में ही अधबूढ़ा हो चला है। हमउम्र होकर भी मुझ से दस-पन्द्रह वर्ष बड़ा दीखने लगा है। सच है, अधिक सोच-विचार व्यक्ति को असमय में ही बुजुर्ग बना देता है।

३

अज्ञानी होना उतना हानिकारक नहीं है, जितना हानिकारक है अपने अज्ञान का ज्ञान न होना, अपने अज्ञान को स्वीकार न करना। धर्मेश में यह दोष नहीं था। उसे धर्म का ज्ञान तो नहीं था; पर अपने धर्म सम्बन्धी अज्ञान का ज्ञान बराबर था। वह अपनी इस कमी को निरन्तर महसूस भी करता था। एतदर्थ जो भी संभव साधन होते, उन्हें जुटाने में भी वह कोई कोर-कसर शेष नहीं छोड़ता।

कहते हैं कि जब स्वयं की तैयारी होती है तो साधनों की भी कमी नहीं रहती। इसे ही शास्त्रीय शब्दों में ऐसा कहते हैं कि **जब अपने उपादान की तैयारी होती है तो निमित्त कारण तो आसमान से उतर आते हैं।** देखो न! भगवान महावीर स्वामी के दस भव पूर्व सिंह की पर्याय में जब उपादान में सम्यग्दर्शन होने की तैयारी हो गई तो उपदेश के निमित्त के रूप में संजय और विजय नाम के चारणऋद्धिधारी मुनिराज जंगल में आसमान से उतरकर आ ही गये।

धर्मेश के साथ भी यही हुआ। एक वयोवृद्ध बहुश्रुत विद्वान् पण्डित जिनेशजी कहीं जा रहे थे कि धर्मेश के नगर के निकट ही उनकी गाड़ी खराब हो गई। उन्हें वहाँ रुकना पड़ा। धर्मेश एवं नगरवासियों के निवेदन पर पण्डित जिनेशजी के प्रवचन का लाभ तो समाज को मिला ही, धर्मेश ने भी अपने मन में बहुत दिनों से संजोये प्रश्न भी उनसे पूछ ही लिये।

धर्मेश के जिज्ञासा भरे प्रश्नों को सुनकर पण्डितजी ने भारी प्रसन्नता प्रगट की।

धर्मेश का प्रथम प्रश्न था - मैं नियमित पूजा करता हूँ तथा मेरे पिताजी ने भी जीवन भर पूजन की है; पर उसका परिणाम सामने क्यों नहीं आया ?

धर्मेश के प्रश्न के उत्तर में पण्डित जिनेशजी ने कहा - "यह सच है कि इतने दिन देव पूजन करने का जो फल तुम्हें मिलना चाहिए था, वह नहीं मिला।

यह भी सच हो सकता है कि तुम्हारे पिताजी भी जीवनभर पूजन-पाठ करते रहे, फिर भी उनकी परिणति में कोई विशेष परिवर्तन दिखाई नहीं देता, वे भी कोरे के कोरे रह गये हैं; पर तुम्हारा यह सोचना सही नहीं है कि पूजा का कुछ भी परिणाम नहीं निकला।

अच्छा तुम ही बताओ ? यदि तुम बचपन से पूजा-पाठ नहीं कर रहे होते तो क्या तुम्हारे मन में पूजन के सम्बन्ध में ये प्रश्न उठते, जो अभी उठ रहे हैं ? क्या यह जिज्ञासा का जगना कोई उपलब्धि नहीं है ? जो उपलब्ध नहीं हो सका, उसमें भी पूजा-पद्धति का कोई दोष नहीं है। वह तो हमारी ही कहीं कोई मूल में भूल रही है, जिससे तुम्हें अभूतपूर्व उपलब्धि नहीं हुई। चलो कोई बात नहीं, कम से कम आत्मनिरीक्षण का अवसर तो मिला। यह भी तो सुपरिणाम ही है न ?

भाई ! जब मूलभूत वस्तु का कुछ ज्ञान ही नहीं था तो ऐसी स्थिति में यदि यह नहीं करते तो और करते भी क्या ?

यदि सच्चे देव-शास्त्र-गुरु की शरण में नहीं आये होते तो किसी अन्य अदेव-कुदेव की शरण में पड़े होते। अथवा किसी और पारिवारिक गोरख-धंधे में उलझे होते। निश्चित ही किसी न किसी पापप्रवृत्ति में ही पड़े होते, कोई न कोई विकथा ही करते होते। जितना समय पूजा-पाठ में गया, उतनी देर विषय-कषाय से तो बचे ही रहे न ? हानि क्या हुई ? अतः इसे सर्वथा निरर्थक तो नहीं कह सकते; **पर इसी में अटके रहना, इसी को धर्म मानकर संतुष्ट हो जाना ठीक नहीं है; क्योंकि यह सुअवसर बार-बार नहीं मिलता।** समुद्र में फैंके मणि की भाँति ऐसे सुअवसरों की प्राप्ति दुर्लभ हो जाती है, जिसमें सत्य की शोध-खोज की जा सकती है।

वास्तविक स्थिति यह है कि अज्ञान दशा में की गई भावशून्य क्रियायें थोथी होती हैं। अभीष्ट फलदायक नहीं होतीं।

कविवर बनारसीदास ने कहा है -

जो बिन ज्ञान क्रिया अवगाहे, जो बिन क्रिया मोक्ष पद चाहे ।
जो बिन मोक्ष कहे मैं सुखिया, सो अजान मूढ़न में मुखिया ॥

जो बिना आत्मज्ञान के धार्मिक क्रियायें करते हैं, जो बिना क्रिया किये मोक्षपद चाहते हैं, जो बिना मुक्त हुए अपने को सुखी मानते हैं; वे सचमुच मूर्खों के सरदार हैं। अतः धर्म का यथार्थ ज्ञान तो होना ही चाहिये।"

धर्मेश ने हार्दिक प्रसन्नता प्रगट करते हुए कहा - "मेरी समझ में यह तो आ गया कि प्रतिदिन परमात्मा की पूजा करना सर्वथा निरर्थक नहीं है। विकथा आदि पापभावों से तो बचे ही रहते हैं; तथा जो काम करते हैं, उसके बारे में विशेष जानने की जिज्ञासा भी जगती ही है। निःसंदेह इतना लाभ तो मुझे भी हुआ ही है। पर बात यह है कि - "जो वीतराग भगवान भक्ति से प्रसन्न ही नहीं होते, जिन्हें भक्तों की पूजा से कोई प्रयोजन ही नहीं है तथा जो भक्तों की कोई सहायता ही नहीं करते, उनकी भक्ति करना तो भैंस के आगे बीन बजाना ही हुआ न! उनकी भक्ति-पूजा से क्या लाभ ? हम अन्य दर्शनों में मान्य उन्हीं देवी-देवताओं की पूजा क्यों न करें, जो भक्तों के वश होकर दौड़े-दौड़े चले आते हैं, मौके-बेमौके पर उनकी मदद भी करते हैं, भक्तों के दुःख दूर कर देते हैं, भक्तों के हृदयसे निकली पुकार से जिनका सिंहासन तत्काल डोल जाता है ?"

पण्डित जिनेशजी ने समझाया - "**भाई ! सचमुच तो जगत में ऐसा कोई ईश्वर है ही नहीं, जो किसी के दुःख दूर कर उसे सुखी कर सके। तथा प्रायः सभी दर्शनों के अनुसार संसार में जो भी सुख-दुःख होता है, वह सब अपने-अपने पुण्य-पाप के अनुसार होता है।**

सर्वशक्ति सम्पन्न ईश्वर में आस्था रखनेवाले दर्शनों में भी ऐसे अनेक पौराणिक आख्यान हैं, जहाँ ईश्वरीय शक्तियाँ भी विफल होती देखीं गईं हैं। हिन्दी साहित्य के प्रसिद्ध महाकवि तुलसीदास की यह पंक्ति ही तुम्हारे समाधान के लिए पर्याप्त होगी -

कर्मप्रधान विश्व करि राखा, जो जस कीन तस फल चाखा।

इस सन्दर्भ में जैनाचार्य अमितगति के सामायिक पाठ का हिन्दी अनुवाद भी दृष्टव्य है -

स्वयं किये जो कर्म शुभाशुभ, फल निश्चय ही वे देते ।
करे आप फल देय अन्य तो स्वयं किये निष्फल होते ॥

दौड़े-दौड़े चले आने वाले देवी-देवता भी पुण्य के प्रताप से ही आते हैं। पापोदय में तो देवता भी मदद नहीं करते।

मुनिराज ऋषभदेव को ही देखो न ! उनके गर्भ, जन्म व तप कल्याणक मनानेवाले इन्द्र उस समय मदद करने नहीं आये, जब वे छह महीने तक प्रतिदिन आहार को निकलते रहे और असाता कर्मोदय में दातारों को आहार की विधि ज्ञात न होने के कारण निराहार लौटते रहे।

इसी से सिद्ध है कि कोई किसी की मदद नहीं करता, न कर सकता है।

गीता जैसे प्रसिद्ध हिन्दू ग्रन्थ में भी निष्काम-भक्ति करने का ही संदेश दिया है। अतः पूजा-भक्ति किसी को प्रसन्न करने और लौकिक कार्यों की सिद्धि के लिए नहीं की जाती और करना भी नहीं चाहिए।''

पण्डित जिनेशजी ने आगे कहा - ''जो लोग ऐसा मानते हैं कि भगवान भक्तों की करुण पुकार सुनकर दौड़े-दौड़े चले आते हैं, वे भ्रम में हैं। सचमुच वे भगवान को पहचानते ही नहीं हैं। अरे भाई ! भगवान सर्वज्ञ और सर्वदर्शी तो होते ही हैं, वे वीतरागी भी होते हैं।

भोले भक्तों की मान्यतानुसार भगवान सचमुच ही करुणा करके अपराधियों को क्षमादान करने लगे तो फिर आप ही सोचो - ऐसी स्थिति में अपराधों की प्रवृत्ति बढ़ेगी या घटेगी ?''

एक समझदार श्रोता ने कहा - ''इस तरह तो निःसंदेह अपराधों की और पापों की प्रवृत्ति बढ़ेगी ही; क्योंकि अपराधों और पापों पर जो थोड़ी-वहुत रोक परलोक में नरक-निगोद के दुःखों के भय से और इस भव में राजदण्ड के भय से रहती है, वह भी समाप्त हो जायेगी। फिर न तो कोई पापों से डरने और न पुण्य करने की आवश्यकता समझेंगे।

इस मान्यता से मन्दिरों में लम्बी लाइनें अवश्य लग जायेंगी, पर पाप और अपराध तो बढ़ेंगे ही; क्योंकि पापों को माफ कराने का सरल उपाय जो मिल जायेगा।

आज तो लोगों की यह हालत है कि दिन-रात मिथ्यात्व व कषायों वश घोर पाप करते रहते हैं, आर्त-रौद्र ध्यानों में आकंठ निमग्न रहते हैं। साथ ही प्रतिदिन सुबह-शाम जिनमन्दिर में बड़े गर्व के साथ भगवान के सामने हाथ फैलाकर सुरीले स्वर में हाव-भाव के साथ आलोचना पाठ पढ़ा करते हैं - मानों बहुत बहादुरी के काम करके आये हों और भगवान को अपनी गौरव गाथा सुना रहे हों।''

पण्डितजी ने उसकी बात को स्पष्ट करते हुए कहा - ''भाई, तुम्हारा सोचना एकदम सही है - इस सन्दर्भ में कविवर जौहरी कृत आलोचना पाठ की एक-एक पंक्ति ध्यान देने योग्य है। उदाहरणार्थ कुछ पद्य इसप्रकार हैं -

विपरीत एकांत विनयके, संशय अज्ञान कुनयके ।
वश होय घोर अघ कीने, वचतैं नहिं जात कहीने ॥

कुगुरुनकी सेवा कीनी, केवल अदयाकरि भीनी ।
याविधि मिथ्यात बढ़ायो, चहुँगति मधि दोष उपायो ॥

हिंसा पुनि झूठ जु चोरी, पर-वनितासों दृग जोरी ।
आरम्भ परिग्रह भीने, पन पाप जु या विधि कीने ॥

सपरस रसना घ्रानन को, दृग कान विषय सेवन को ।
बहु करम किये मनमाने, कछु न्याय-अन्याय न जाने ॥

फल पंच उदंबर खाये, मधु मांस मद्य चित चाहे ।
नहिं अष्ट मूलगुण धारे, सेये कुव्यसन दुःखकारे ॥

दुइवीस अभख जिन गाये, सो भी निस-दिन भुंजाये ।
कछु भेदाभेद न पायो, ज्यों-त्यों करि उदर भरायो ॥

निद्रावश शयन करायो, सुपने मधि दोष लगायो ।
फिर जागि विषय-वन धायो, नानाविध विष-फल खायो ॥

अहार-विहार-निहारा, इनमें नहिं जतन विचारा ।
बिन देखा धरा उठाया, बिन शोधा भोजन खाया ॥

तब ही परमाद सतायो, वहुविधि विकलप उपजायो ।
कछु सुधि-वुधि नाहिं रही है, मिथ्या मति छाय गयी है ॥।

हा! हा!! मैं दुठ अपराधी, त्रस-जीवन-राशि विराधी ।
थावर की जतन न कीनी, उरमें करुणा नहीं लीनी ॥

पृथिवी बहु खोद कराई, महलादिक जांगा चिनाई ।
पुनि विन गाल्यो जल ढोल्यो, पंखातैं पवन विलोल्यो ॥

हा! हा!! मैं अदयाचारी, वहु हरितकाय जु विदारी ।
तामधि जीवन के खंदा, हम खाये धरि आनंदा ॥

हा! हा!! परमाद वसाई, विन देखे अग्नि जलाई ।
ता मधि जीव जु आये, ते हू परलोक सिधाये ॥

वीध्यो अन्न राति पिसायो, ईंधन विन सोधि जलायो ।
झाड़ू ले जांगा वुहारी, चिंटी आदिक जीव विदारी ॥

जल छानि जिवानी कीनी, सो हू पुनि डारि जु दीनी ।
नहिं जलथानक पहुँचाई, किरिया विन पाप उपाई ॥

जल-मल मोरिन गिरवायो, कृमि-कुल वहु घात करायो ।
नदियन विच चीर धुवाये, कोसन के जीव मराये ॥

अन्नादिक शोध कराई, तामैं जु जीव निसराई ।
तिनका नहिं जतन कराया, गलियारै धूप डराया ॥

पुनि द्रव्य कमावन काजैं, वहु आरंभ हिंसा साजैं ।
किये अघ तिसनावश भारी, करुणा नहिं रंच विचारी ॥

इत्यादिक पाप अनंता, हम कीने श्री भगवंता ।
संतति चिरकाल उपाई, वानी तैं कही न जाई ॥

इस तरह जो हल्फिया वयान हमने भगवान के सामने दिये हैं, यदि यही वयान न्यायालय में न्यायाधीश के सामने दिये होते तो कभी के सींखचों के अन्दर होते।

अन्याय तो प्रकृति में भी नहीं है, तभी तो हम संसार की जेल में ही हैं। तथा पापों का फल भोगे बिना तथा अपराधवृत्ति छोड़े बिना इस दु:ख से छुटकारा पाने का अन्य कोई उपाय भी नहीं है।

हमें यह भ्रम निकाल देना चाहिए कि हम पाप करते रहेंगे और आलोचना पाठ पढ़ने से भगवान क्षमा प्रदान करते रहेंगे।

प्रतिक्रमण, प्रायश्चित व आलोचना तो इसलिए किए जाते हैं कि हम अपने दोषों और अपराधों को स्वीकार कर उनकी पुनरावृत्ति न करें। जब तक पुनरावृत्ति होती रहेगी तब तक मात्र आलोचना आदि पाठों के पढ़ने से प्रयोजन की पूर्ति होना सम्भव नहीं है।

जो लोग प्रतिदिन स्तुति पाठ आदि करके अपने कर्त्तव्य की इतिश्री मान लेते हैं और समझ लेते हैं कि हमारे सब पापों का प्रक्षालन हो गया है, वे भ्रम में हैं। उनकी पापमय प्रवृत्ति जहाँ की तहाँ है, बिल्कुल भी नहीं घट रही है। अत: यही मानना न्याय है कि जो भी पाप या अपराध हमने किये हैं या कर रहे हैं, उन्हें कोई ईश्वरीय शक्ति या भगवान माफ नहीं कर सकते। उनका फल तो हमें भोगना ही होगा।

माखनलाल चतुर्वेदी ने ऐसे ही भोले भक्तों और उनके भगवान पर व्यंग्य करते हुए ठीक ही कहा है -

हे भगवन् ! तू क्या कर सकता है इन्साफ !
अरे ! प्रार्थना की रिश्वत पर कर देता है माफ ॥

अत: केवल वीतरागदेव ही आराध्य हैं, भले वे कुछ नहीं करते; पर उनके पवित्र गुणों का स्मरण पापियों के पापरूप मल से मलिन मन को निर्मल कर देता है। मन का निर्मल हो जाना ही जिनदेव की पूजा-भक्ति का सच्चा फल है।"

धर्मेश ने अगला प्रश्न किया - "जब जैनदर्शन के अनुसार भावों से ही पुण्य-पाप का बन्ध होता है और भावों से ही बन्ध-मोक्ष होता है तो पूजापद्धति में भी भावपूजा को ही महत्व मिलना चाहिए। द्रव्यपूजा को इतना महत्व क्यों दिया गया ?

भव्य जिनमंदिर, विशाल जिनबिम्ब, एक-दो नहीं आठ-आठ द्रव्य, वे भी भर-भर थाल, नाच-गान, झाँझ-मँजीरा, ताल-मृदंग - इन सबकी क्या आवश्यकता है ? वीतरागी भगवान को तो इन सबसे कुछ प्रयोजन है ही नहीं। सर्वज्ञ होने से वे भक्तों के भावों को भी भली-भाँति जानते ही हैं, फिर यह आडम्बर क्यों किया जाता है ?''

पण्डितजी ने इस प्रश्न के उत्तर में कहा - ''यह सब आडम्बर भगवान के लिए नहीं, बल्कि हम-तुम जैसे चंचल चित्त वाले भक्तों के लिए करना पड़ता है। इनके बिना हमारा मन-मर्कट किसी एक स्थान पर टिकता ही नहीं है। हमारा चंचल चित्त बनवासी बन्दरों की भाँति विषयवृक्षों के विषफल खाने के लिए उछल-कूद करता ही रहता है। उसे वहाँ से हटाने और शुभभावों में टिकाने के लिए ये सब साधन के रूप में स्वीकार किए गये हैं।

जिस तरह बच्चों के मन को रमाने के लिए नाना प्रकार के नये-नये खिलौनों का आलम्बन आवश्यक है; वैसे ही भक्ति में मन को रमाने के लिये ये विविध आलम्बन हैं। आँखों का आलम्बन परम शान्त मुद्रायुक्त जिनबिम्ब दर्शन, वाणी का आलम्बन पूजन के पद्यपाठ, मन का आलम्बन पूजन का अर्थविचार, तथा उपयोग इधर-उधर भ्रष्ट न हो, इसलिये गीत-संगीत आदि साधनों का उपयोग किया जाता है। ज्यों-ज्यों स्थिरता बढ़ती जाती है, त्यों-त्यों ये सब साधन कम होते जाते हैं। पूजन की पंक्ति में भी आता है न -

'आलम्बनानि विविधान्यवलम्ब्य वल्गन्, भूतार्थयज्ञ पुरुषस्य करोमियज्ञम्।

हे भगवान ! इन विविध आलम्बनों का आलम्बन लेकर मैं आपकी पूजा करता हूँ।'

इसप्रकार इन विविध सामग्री की गृहस्थों को आवश्यकता है व उसकी उपयोगिता भी है ।

पर ध्यान रहे, वीतरागी अहिंसा-प्रधान धर्म में आलम्बन भी पवित्र और अहिंसक ही होते हैं। अत: हमारी प्रत्येक धार्मिक क्रिया अहिंसक होनी चाहिये।

जिसे जिनेन्द्र भगवान के वीतराग-विज्ञानमय स्वरूप की खबर ही न हो; जिसे उनके सर्वज्ञता और वीतरागता जैसे अनुपम गुणों पर श्रद्धा ही न हो; जो जिनेन्द्र भगवान को भक्तों का भला करनेवाला और दुष्टों को दण्ड देनेवाला मानता हो; जो उन्हें अधमउधारक, पतितपावन, दीनदयाल मानता हो; उसके हृदय में उनके वीतरागी स्वभाव की महिमा कहाँ से आयेगी? उनके वीतरागी व्यक्तित्व के प्रति भक्ति-भावना कैसे आयेगी ? क्योंकि ये सब कार्य करुणा व क्रोध के बिना तो संभव ही नहीं होते। ऐसी मान्यतावालों के द्वारा तो वीतराग भगवान की भक्ति के बजाय भगवान का अवर्णवाद ही होता है।

वीतरागी जिनेन्द्रदेव के स्वरूप से अपरिचित भक्त तो भगवान का और उनकी भक्ति का मूल्यांकन भी अपनी माँग-पूर्ति के हिसाब से ही करते हैं। उनके मन में भगवान के प्रति निष्काम भक्ति-भावना कहाँ से/कैसे आयेगी ?

सच्ची पूजा-भक्ति तो वीतरागी देव-शास्त्र-गुरु की यथार्थ पहचानपूर्वक ही होती है और जिन्हें इनकी पहचान होती है, उन्हें ही पूजा के द्वारा पापों की निवृत्ति एवं आत्मा की प्राप्तिरूप सच्चे फल की प्राप्ति होती है और यही पूजा का मुख्य प्रयोजन है।

पूजन के मुख्यत: दो ही प्रयोजन हैं - एक पापों से बचना और दूसरा परमात्मपद प्राप्त करने का मार्ग प्रशस्त करना।

पहला प्रयोजन तो इस तरह पूरा हो जाता है कि जबतक अरहंत व सिद्ध परमात्मा हमारे ध्यान में विचरेंगे; तब तक पाँचों पाप, पाँचों इन्द्रियों के विषय एवं राग-द्वेषादि मनोविकार हमारे ध्यान में आ ही नहीं सकेंगे; क्योंकि ध्यान में परमात्मा और पाप एक साथ नहीं ठहरते।

क्षेत्र व काल की अपेक्षा भी जिनमन्दिर और पूजा-पाठ का समय विषय-कषाय के वातावरण से अछूते ही रहते हैं। मन्दिर की मर्यादित सीमा में विषय-विषधर प्रवेश नहीं पाते।

दूसरा प्रयोजन भी परमात्मा के स्वरूप को द्रव्य-गुण-पर्याय से जानने-पहचानने से, उसी में चित्त को रमाने से पूरा हो जाता है।

जबतक परिपूर्ण ज्ञान एवं पूर्ण पवित्रता की प्राप्ति अपने जीवन में नहीं हो पाती, तबतक न चाहते हुये भी शुभभावों के रहने से ज्ञानी धर्मात्माओं को भी सातिशय पुण्यबंध भी सहज ही होता रहता है, जिसके निमित्त से लौकिक अनुकूलतायें भी वनी ही रहतीं हैं।

अन्य अज्ञानी जीवों के भी यदि पूजा करते समय मंद कषाय हुई तो उतनी देर पापों से निवृत्ति के कारण उन्हें भी यथायोग्य पुण्य की प्राप्ति हो जाती है। यदि किसी के मन में लौकिक कामना से तीव्र कषाय रही तो पूजा जैसे पवित्र कार्य करते हुए भी पापवंध भी होता है; क्योंकि पुण्य-पाप का वंध भी तो भावों से ही होता है।

कहा भी है -

बन्ध-मोक्ष परिणामन ही सों, कहत सदा ये जिनवर वाणी।

धर्मेश का एक अन्य प्रश्न सिद्ध भगवान के आह्वान के संवंध में था - "जब सिद्ध परमात्मा संसार में आते ही नहीं हैं, आठों कर्मों का अभाव हो जाने से आ भी नहीं सकते तो फिर हम सिद्धपूजन में उनका आह्वान क्यों करते हैं ? क्या औचित्य है इसका ? पूजन के पाँच अंगों में आह्वानन, स्थापन और सन्निधिकरण - तीन तो ये ही हैं। पूजन के अंगों में इन्हें इतना महत्व क्यों ? और जब आह्वान आदि का ही औचित्य सिद्ध नहीं होता तो फिर विसर्जन भी किसका ?"

पण्डितजी ने धर्मेश की शंका का समाधान लौकिक उदाहरण और मनोवैज्ञानिक पद्धति से करने का प्रयास किया। उन्होंने कहा - "मानलो अपना कोई ऐसा सगा-संबंधी है जिसके साथ अपने अत्यन्त निकट के संवंध हैं, पारिवारिक परिस्थितिवश या असाध्य बीमारी के कारण वह अपने यहाँ हो रहे शादी के उत्सव में सम्मिलित नहीं हो सकता। शत-प्रतिशत तय ही है कि वह आयेगा ही नहीं - ऐसी स्थिति में उसे आमंत्रण-पत्र भेजना चाहिये या नहीं ?"

धर्मेश ने उत्तर दिया - " भले ही कोई आये या न आये, आ सके या न आ सके, यह उसकी समस्या है; पर आमंत्रण तो दिया ही जाना चाहिये। आमंत्रण न देने की तो कल्पना भी नहीं की जा सकती।

मैं तो यहाँ तक कहूँगा कि यदि किसी मजबूरी में वे न आ सकें तो आशीर्वाद लेने उनके घर स्वयं वर-वधू को पहुँचना चाहिए।''

धर्मेश के उत्तर के आधार पर ही पण्डितजी ने कहा -

''लोक व्यवहार में जब आमंत्रण न देने जैसी कल्पना करना भी उचित नहीं है तो धर्म के क्षेत्र में ऐसा प्रश्न ही कैसे पैदा होता है कि जब अरहंत व सिद्ध आते ही नहीं हैं तो उनका आह्वान करना चाहिए या नहीं ? भाई ! तुम आह्वान करने में प्रश्नचिन्ह लगा रहे हो ? भक्त तो उसे कहते हैं कि यदि उसका वश चले तो स्वयं सिद्धालय में जाकर सिद्ध परमात्मा को बुलाकर ले आये। क्या आपने भक्तिपरक स्तुतियों में, स्तोत्रों में नहीं देखा कि वीतराग परमात्मा को भी कैसे-कैसे विशेषणों से सम्बोधित किया गया है, कैसे-कैसे उपालम्भ दिए गये हैं? अतः पूजन-भक्ति में आह्वान करना कोई अनुचित क्रिया नहीं है।''

धर्मेश ने एक क्षण रुककर जब अपने प्रश्न के संदर्भ में पण्डितजी की प्रवल युक्ति पर गम्भीरता से विचार किया तो अन्तरात्मा से आवाज आई -

सचमुच बात तो ऐसी ही है - अरहंत व सिद्ध भगवान भले आयें या न आयें, आ सकें या न आ सकें; पर जो परमात्मा हमारे परम हितोपदेशी हैं, हमारे आदर्श हैं, परमगुरु हैं, परमपूज्य देवाधिदेव हैं, हमारे ही पूर्वज हैं; वे हमें प्रतिदिन याद न आयें, उनका हम आह्वान न करें - यह कैसे हो सकता है ? भगवान को पहचानने वाले भक्तों के हृदय में यह प्रश्न पैदा ही नहीं होता कि भगवान का आह्वान करें या नहीं ?

अरे ! एक बात यह भी तो है कि वे लोक में भले न आयें; पर हमारे ज्ञान में तो आ ही सकते हैं। समय-समय पर स्वप्नों में तो आ ही जाते हैं और ध्यान में भी विचर ही सकते हैं। ध्यान में आने से उन्हें कौन रोक सकता है ?

इसीलिए तो महावीर वन्दना में कहा है -

वे वर्द्धमान महान् जिन विचरें हमारे ध्यान में।

भले ही सिद्ध परमात्मा साक्षात् न आयें, मात्र ध्यान में ही आ जायें, तो भी हमारा प्रयोजन तो पूरा हो ही जाता है।

धर्मेश के मुखमंडल पर गम्भीरता की रेखायें देखकर पण्डितजी ने आह्वानन संबंधी प्रश्न को बालमनोविज्ञान के एक अत्यन्त सरल व रोचक उदाहरण से और स्पष्ट किया।

उन्होंने कहा – "बात उस समय की है जब लोग रस्सी-बाल्टी लेकर कुएँ पर स्नान करने जाया करते थे। कुएँ के किनारे भी कच्चे ही रहते थे, किनारों पर पानी फैलते रहने से काई जम जाती, इस कारण कुएँ में फिसल जाने की भी शंका बनी रहती; पर सावधानी के सिवाय बचने का और कोई उपाय नहीं था।

एक बालक अपने पिता के पीछे-पीछे नहाने के लिए कुएँ पर पहुँच गया और कुएँ के किनारे पर जाकर बैठ गया। पिता चिल्लाया – 'अरे ! कहाँ जाकर बैठा है, वहाँ से हट जा ! देखता नहीं, कितनी काई जम रही है, पाँव फिसलते ही ... !!!!!

पिता का वाक्य पूरा ही नहीं हो पाया कि पुत्र धड़ाम से कुएँ में जा गिरा। पानी कम होने से और सीधा गिरने से डूबा भी नहीं और तन पर चोट भी नहीं लगी; पर मन में घबराहट तो हो ही गई।

पिता भी पुत्र को कुएँ में गिरा देख घबरा गया; पर कुएँ के अन्दर से आवाज आई – पिताजी ! आओ, आओ और मुझे इस संकट से बचाओ। यहाँ चारों ओर साँप ही साँप हैं, मेंढ़क हैं, पानी भी बहुत ठंडा है; जल्दी आओ, जल्दी... और ... मुझे ... निकालो।

पुत्र की पुकार सुनकर पिता को इतनी तसल्ली तो हो गई कि बेटा बच गया है और पूरे होश-हवास में है; पर करूँ क्या? उसके पास कैसे जाऊँ ?

उसके पास पहुँचना तो संभव नहीं था, पर पिता को एक उपाय सूझा, उसने रस्सी को कुएँ में डाला, रस्सी तीन बेलों से मजबूत बनी थी, बालक उसके सहारे ऊपर आ सकता था, पर नादान बालक रस्सी का सहारा न लेकर पिता को पुकारता ही रहा ... यहाँ आओ ... यहाँ आओ ...।

मैं तो यहाँ तक कहूँगा कि यदि किसी मजबूरी में वे न आ सकें तो आशीर्वाद लेने उनके घर स्वयं वर-वधू को पहुँचना चाहिए।''

धर्मेश के उत्तर के आधार पर ही पण्डितजी ने कहा -

''लोक व्यवहार में जब आमंत्रण न देने जैसी कल्पना करना भी उचित नहीं है तो धर्म के क्षेत्र में ऐसा प्रश्न ही कैसे पैदा होता है कि जब अरहंत व सिद्ध आते ही नहीं हैं तो उनका आह्वान करना चाहिए या नहीं ? भाई ! तुम आह्वान करने में प्रश्नचिन्ह लगा रहे हो ? भक्त तो उसे कहते हैं कि यदि उसका वश चले तो स्वयं सिद्धालय में जाकर सिद्ध परमात्मा को बुलाकर ले आये। क्या आपने भक्तिपरक स्तुतियों में, स्तोत्रों में नहीं देखा कि वीतराग परमात्मा को भी कैसे-कैसे विशेषणों से सम्बोधित किया गया है, कैसे-कैसे उपालम्भ दिए गये हैं? अतः पूजन-भक्ति में आह्वान करना कोई अनुचित क्रिया नहीं है।''

धर्मेश ने एक क्षण रुककर जब अपने प्रश्न के संदर्भ में पण्डितजी की प्रबल युक्ति पर गम्भीरता से विचार किया तो अन्तरात्मा से आवाज आई -

सचमुच बात तो ऐसी ही है - अरहंत व सिद्ध भगवान भले आयें या न आयें, आ सकें या न आ सकें; पर जो परमात्मा हमारे परम हितोपदेशी हैं, हमारे आदर्श हैं, परमगुरु हैं, परमपूज्य देवाधिदेव हैं, हमारे ही पूर्वज हैं; वे हमें प्रतिदिन याद न आयें, उनका हम आह्वान न करें - यह कैसे हो सकता है ? भगवान को पहचानने वाले भक्तों के हृदय में यह प्रश्न पैदा ही नहीं होता कि भगवान का आह्वान करें या नहीं ?

अरे ! एक बात यह भी तो है कि वे लोक में भले न आयें; पर हमारे ज्ञान में तो आ ही सकते हैं। समय-समय पर स्वप्नों में तो आ ही जाते हैं और ध्यान में भी विचर ही सकते हैं। ध्यान में आने से उन्हें कौन रोक सकता है ?

इसीलिए तो महावीर वन्दना में कहा है -

वे वर्द्धमान महान् जिन विचरें हमारे ध्यान में।

भले ही सिद्ध परमात्मा साक्षात् न आयें, मात्र ध्यान में ही आ जायें, तो भी हमारा प्रयोजन तो पूरा हो ही जाता है।

धर्मेश के मुखमंडल पर गम्भीरता की रेखायें देखकर पण्डितजी ने आह्वानन संबंधी प्रश्न को बालमनोविज्ञान के एक अत्यन्त सरल व रोचक उदाहरण से और स्पष्ट किया।

उन्होंने कहा – "बात उस समय की है जब लोग रस्सी–बाल्टी लेकर कुएँ पर स्नान करने जाया करते थे। कुएँ के किनारे भी कच्चे ही रहते थे, किनारों पर पानी फैलते रहने से काई जम जाती, इस कारण कुएँ में फिसल जाने की भी शंका बनी रहती; पर सावधानी के सिवाय बचने का और कोई उपाय नहीं था।

एक बालक अपने पिता के पीछे–पीछे नहाने के लिए कुएँ पर पहुँच गया और कुएँ के किनारे पर जाकर बैठ गया। पिता चिल्लाया – 'अरे ! कहाँ जाकर बैठा है, वहाँ से हट जा ! देखता नहीं, कितनी काई जम रही है, पाँव फिसलते ही ... !!!!!

पिता का वाक्य पूरा ही नहीं हो पाया कि पुत्र धड़ाम से कुएँ में जा गिरा। पानी कम होने से और सीधा गिरने से डूबा भी नहीं और तन पर चोट भी नहीं लगी; पर मन में घबराहट तो हो ही गई।

पिता भी पुत्र को कुएँ में गिरा देख घबरा गया; पर कुएँ के अन्दर से आवाज आई – पिताजी ! आओ, आओ और मुझे इस संकट से बचाओ। यहाँ चारों ओर साँप ही साँप हैं, मेंढ़क हैं, पानी भी बहुत ठंडा है; जल्दी आओ, जल्दी... और ... मुझे ... निकालो।

पुत्र की पुकार सुनकर पिता को इतनी तसल्ली तो हो गई कि बेटा बच गया है और पूरे होश–हवास में है; पर करूँ क्या? उसके पास कैसे जाऊँ ?

उसके पास पहुँचना तो संभव नहीं था, पर पिता को एक उपाय सूझा, उसने रस्सी को कुएँ में डाला, रस्सी तीन बेलों से मजबूत बनी थी, बालक उसके सहारे ऊपर आ सकता था, पर नादान बालक रस्सी का सहारा न लेकर पिता को पुकारता ही रहा ... यहाँ आओ ... यहाँ आओ ...।

बस यही स्थिति भक्तों एवं भगवान की है। सभी भक्त भवकूप में पड़े हैं और भगवान भवकूप के किनारे पर सिद्धशिला पर बैठे हैं। भक्त उनका आह्वान करता है। पर भगवान भी क्या करें ? उनका यहाँ भवकूप में आना तो संभव है नहीं। हाँ ! उन्होंने भी उस बालक के पिता की भाँति ही सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप तीन बेलों से बटी मजबूत मोक्षमार्गरूपी रस्सी भवकूप में डाल रखी है। भक्त चाहें तो उस रस्सी के सहारे सिद्धशिलारूप भवकूप के किनारे पर अपने परम पिता परमात्मा के पास पहुँच सकते हैं।

यदि नादान भक्त भगवान के बताये मोक्षमार्ग पर न चलकर उन्हें केवल 'अत्र अवतर-अवतर' कहकर उनका आह्वान ही करता रहे, उन्हें यहाँ भवकूप में ही बुलाता रहे तो उस बालक की तरह भक्त भी भवकूप में पड़े-पड़े रोते ही रहेंगे।

अरे! भक्तिवश भक्त को सब-कुछ कहने की छूट है; पर ज्ञानी भक्त वास्तविकता से अनभिज्ञ नहीं होते।

जो भक्त समझदार होते हैं, वे भगवान की भक्ति-पूजा के साथ उनके बताये मार्ग पर चलते हैं और एक न एक दिन स्वयं भगवान बन जाते हैं। इसके विपरीत जो भगवान के भरोसे ही भवकूप में पड़े-पड़े उन्हें केवल पुकारा ही पुकारा करते हैं, उनके बताये मार्ग को सुनने-समझने की कोशिश ही नहीं करते; वे भवकूप से नहीं निकल पाते।

भाई ! पूजा-भक्ति के माध्यम से अपने को पहचान कर भक्त से स्वयं भगवान बन जाना ही पूजा का मूल प्रयोजन है।"

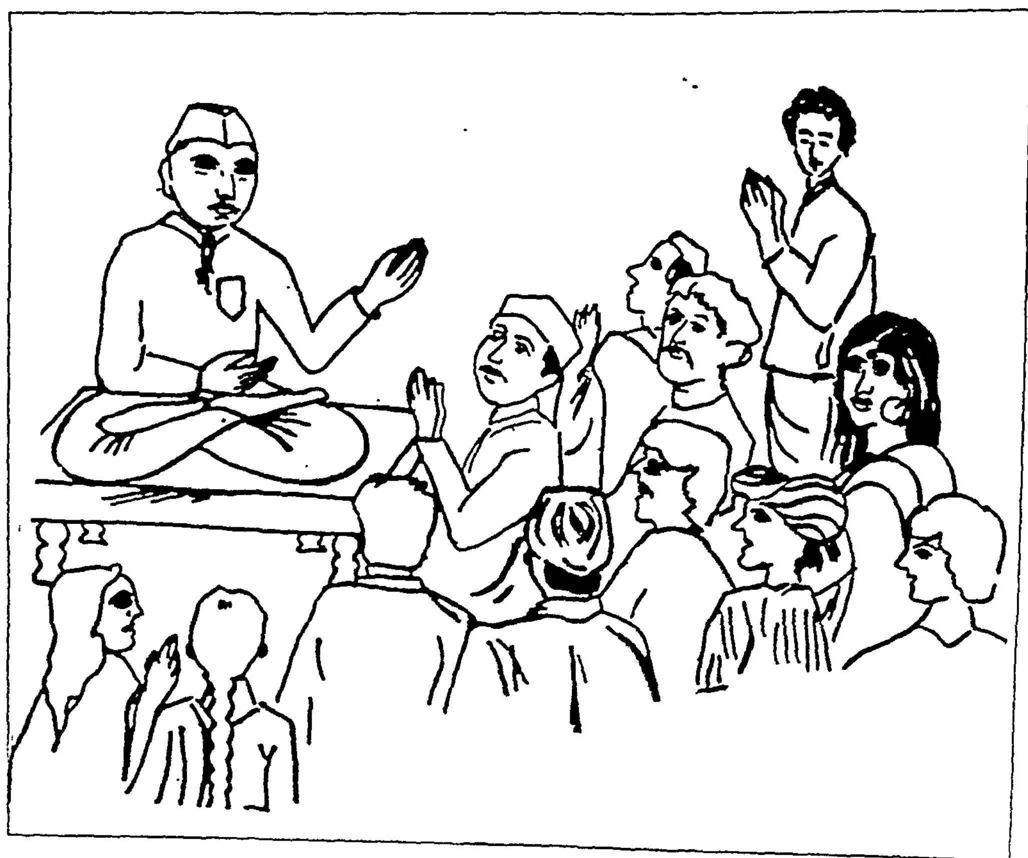
पण्डितजी द्वारा ऐसे सरल-सुबोध शैली में किए समाधान से धर्मेश तो हर्षित हुआ ही, अन्य लोग भी लाभान्वित हुये।

प्रश्न तो और भी बहुत थे, पर समयाभाव के कारण सभी प्रश्नों का समाधान तो संभव नहीं हो सका; पर जितना जो समाधान मिला, उससे सभी श्रोता गद्गद् थे।

वैसे तो पण्डित जिनेशचन्द्रजी धर्मेश के नगर के निकट ऐसे आदर्श ग्राम में रहते थे, जहाँ सुविधायें तो सब शहर जैसीं थीं; पर शहरों जैसा कोलाहल,

भाग-दौड़, गंदगी और गुंडागर्दी नहीं थी। यातायात के साधन भी सब थे। विशुद्ध ग्रामीण वातावरण और दूध-दही, साग-सब्जी आदि के सब साधन सुलभ थे। अन्तर्मुखी मनोवृत्ति होने से पण्डितजी को एकान्तवास ही अधिक प्रिय था। उनका स्वाध्याय भी स्वान्त:सुखाय होता था। आगे आकर तत्त्व प्रचार-प्रसार के आयोजन करना उनकी प्रकृति में नहीं था। कोई करे तो उससे तो वे प्रसन्न ही होते; पर स्वयं कुछ करने को उनका मन नहीं होता। वे इस प्रयोजन से कहीं आते-जाते भी नहीं थे। यही कारण रहा कि उनकी जनसाधारण में विशेष प्रसिद्धि व परिचय नहीं हो पाया।

धर्मेश ने यदि अधिक आग्रह न किया होता तो वे धर्मेश के यहाँ भी प्रवचन व तत्त्वचर्चा करनेवाले नहीं थे। धर्मेश की तो होनहार ही भली थी जो उसका पण्डितजी से अनायास ही घनिष्ट परिचय हो गया। जाते-जाते सभी ने पण्डितजी को पुन: पधारने के लिए हार्दिक आमंत्रण दिया; पर पण्डितजी को कहीं आने-जाने में विशेष उत्साह नहीं आता; अत: वे उन्हें सामान्य औपचारिक आश्वासन देकर अपने घर को प्रस्थान कर गये। •





धर्मेश जन्म से ही जिज्ञासु था। वह बचपन में अपने पिता और पड़ौसियों से ऐसे-ऐसे प्रश्न पूछा करता था, जिनका उत्तर देते-देते वे परेशान हो जाते। अनेक प्रश्न तो ऐसे होते, जिनके उत्तर उन्हें भी नहीं आते। उन्हें निरुत्तर देख धर्मेश कहता - "कोई बात नहीं; अभी जल्दी नहीं है, फिर सोचकर बता देना; पर बताना जरूर।"

पूर्व पीढ़ी से तो उसे धार्मिक संस्कार मिल ही रहे थे, ऐसा लगता है पूर्व पर्याय में भी वह धर्मात्मा रहा होगा; अन्यथा ऐसे नित्योपयोगी प्रयोजनभूत प्रश्न उसके मन में कहाँ से उपजते ?

वह ज्यों-ज्यों बड़ा हुआ, उसकी जिज्ञासा धर्म का मर्म जानने की ओर वृद्धिंगत होती गई। उसे जब भी कहीं/कोई नवीन जानकारी प्राप्त करने का मौका मिलता तो वह उस मौके का लाभ लिये बिना नहीं रहता। वह अधिकांश अपने समय का सदुपयोग अपनी ज्ञान-पिपासा की पूर्ति करने में ही करता।

जब पण्डित जिनेशजी का धर्मेश के नगर में अनायास आगमन हुआ था, तब धर्मेश ने उनसे भी अपने मन में उपजे प्रयोजनभूत प्रश्न पूछे थे और पण्डितजी द्वारा अपने मन में चिरसंचित शंकाओं का आगम-सम्मत एवं युक्ति-संगत समाधान पाकर हार्दिक प्रसन्नता का अनुभव किया था; तभी से वह पण्डितजी के पाण्डित्य और उनकी स्वाभाविक सरलता एवं उदारता से पूर्ण प्रभावित था। पण्डितजी की प्रेरणा से वह स्वाध्याय भी खूब करने लगा था और तभी उसने मन ही मन यह संकल्प कर लिया था कि मैं पण्डितजी के ज्ञान का पूरा-पूरा लाभ उठाऊँगा। चाहे मुझे कितने ही कष्ट क्यों न झेलने पड़ें, पर मैं पीछे नहीं हटूँगा। पण्डितजी को कष्ट पहुँचाये बिना उनसे अधिकतम लाभ कैसे लिया जा सकता है ? इस ओर उसका चिन्तन चल पड़ा।

जहाँ चाह वहाँ राह। थोड़े से प्रयास से ही धर्मेश को सहज ही पण्डित जिनेशजी जैसा निःस्वार्थी, अध्यात्म विद्या में निपुण, सभी ओर से निर्पेक्ष ज्ञानगुरु मिल गया। फिर क्या था, धर्मेश ने अपने विद्यागुरु जिनेशजी से तत्त्व का भरपूर लाभ लिया। धर्मेश पण्डित जिनेशजी का सान्निध्य पाकर मानो कृतकृत्य ही हो गया था। वह बहुत प्रसन्न था। पण्डित जिनेशजी भी धर्मेश जैसे प्रतिभाशाली और धार्मिक रुचि-सम्पन्न जिज्ञासु शिष्य को पाकर फूले नहीं समाये। मानो मणि-कांचन योग हो गया हो। कहते हैं एक और एक दो ही नहीं, ग्यारह भी होते हैं। सचमुच पण्डित जिनेशजी और जिज्ञासु धर्मेश एक और एक ग्यारह हो गये थे।

जहाँ पण्डित जिनेशजी बिराजते थे, अबतक वहाँ उनके द्वारा दोनों समय आध्यात्मिक प्रवचन एवं एक समय शंका-समाधान के रूप में ज्ञान-गोष्ठी तो चलती ही थी, इसके सिवाय वे स्वयं दो कक्षायें भी चलाते थे; पर इन कार्यक्रमों से कुछ वयोवृद्ध लोग ही लाभ लेते थे। पण्डितजी की ज्ञान-गंगा बहती तो बराबर रही; पर उसमें अवगाहन करनेवाले कुछ इने-गिने लोग ही थे।

अपने संकल्प के अनुसार धर्मेश ने वहाँ नियमित जाकर और वहाँ अधिकतम रुककर पहले पाँच वर्ष तक तो चुपचाप पण्डितजी द्वारा प्रवाहित ज्ञान-गंगा में आकंठ निमग्न हो-होकर ज्ञानामृत का पान किया। आध्यात्मिक शास्त्रों का गहन अध्ययन, मनन, चिन्तन करके ज्ञानार्जन किया और ज्ञान-गोष्ठी में शंका-समाधान द्वारा अपने ज्ञान का परिमार्जन करके अपनी श्रद्धा एवं ज्ञान को खूब निर्मल किया। तत्पश्चात् पण्डित जिनेशजी की भावनाओं के अनुसार प्रचार-प्रसार को गति प्रदान करने के लिए पूरे उत्साह के साथ नवीन-नवीन योजनाएँ उनके समक्ष प्रस्तुत कीं। पण्डितजी को धर्मेश की योजनाएँ बहुत पसन्द आयीं। 'अंधे को क्या चाहिए दो आँखें' सचमुच पण्डित जिनेशजी को धर्मेश के रूप में दो आँखें ही मिल गईं थीं। इसका पण्डितजी को भारी हर्ष था।

योजनाएँ तो उत्तम थीं हीं, धन की भी कमी नहीं थी। धीरे-धीरे पण्डित जिनेशजी के साधारण से आवास ने **अध्यात्म विद्या शिक्षण-संस्थान** का रूप ले लिया। सर्वप्रथम वहाँ शिक्षण-शिविरों की शृंखला का शुभारम्भ हुआ। लोग दूर-दूर से इन शिक्षण-शिविरों का लाभ लेने हेतु आने लगे। धर्मेश द्वारा उन शिविरार्थियों को पढ़ाने के लिए एक सरल सुबोध पाठ्यक्रम भी तैयार किया गया और शिक्षक भी तैयार किये गये।

वह धर्मरूप वटबीज धर्मेश के सद्प्रयासों से धीरे-धीरे विशाल वटवृक्ष के रूप में पल्लवित होता चला गया; जिसकी चतुर्दिक फैली बड़ी-बड़ी शाखाओं की शीतल छाया में सहस्रों श्रोता नियमित धर्मलाभ लेने लगे।

वयोवृद्ध विद्वान पण्डित जिनेशजी अपनी आँखों के सामने ही अपने एक साधारण से आवास स्थान को एक विशाल आध्यात्मिक शिक्षण-संस्थान के रूप में परिवर्तित होता देख भारी प्रसन्न होते थे और इसका सम्पूर्ण श्रेय धर्मेश को दिया करते थे। धर्मेश उन्हें धर्मपुत्र के रूप में प्राप्त जो हो गया था। यदि वे चिराग लेकर ढूँढते, आकाश-पाताल एक कर देते तो भी शायद धर्मेश जैसा शिष्य उन्हें नहीं मिलता, जो घर बैठे उन्हें सहज उपलब्ध हो गया था। उन्हें विश्वास हो गया था कि उनके द्वारा दिया गया तत्त्वज्ञान धर्मेश जन-जन तक पहुँचा कर उनकी उन मनोकामनाओं को अवश्य पूर्ण करेगा, जिन्हें वे नहीं कर पा रहे थे। इस कारण उन्होंने बिना किसी से सलाह मशविरा किये स्वयं ही पूर्वापर विचार कर धर्मेश को संस्थान का उत्तराधिकारी घोषित कर दिया। फिर क्या था, धर्मेश का उत्साह द्विगुणित हो गया और उसके अथक् प्रयासों से वह शिक्षण-संस्थानरूपी लघु वाटिका ऐसा विशाल बाग बन गया, जिसके रंग-विरंगे विविध पुष्पों की महक से सारा देश महक उठा।

देश के कोने-कोने में तो आध्यात्मिक क्रान्ति हुई ही, विदेशों में रहनेवाले भारतीय भाइयों तक भी इस अध्यात्म विद्या की सुगन्ध पहुँच गई। फलस्वरूप बड़े-बड़े विद्वान् और श्रीमंत भी धर्मेश के उस शिक्षण-संस्थान को देखने और लाभ लेने की भावना से आने लगे।

धर्मेश अपने शिक्षण-संस्थान में तो नियमित ज्ञान-गंगा बहाते ही, समय-समय पर समाज के आमन्त्रण पर अपने सहयोगियों के साथ बाहर जाकर भी आध्यात्मिक शिक्षण-प्रशिक्षण शिविरों के आयोजन करते रहते।



यदि धर्मेश को शिक्षण-शिविरों की परम्परा का जनक कहा जाय तो अत्युक्ति नहीं होगी। आज सारे देश में जो आध्यात्मिक शिक्षण-प्रशिक्षण शिविर लगाये जा रहे हैं, सचमुच यह धर्मेश की ही देन है। यदि उन्होंने इनका शुभारम्भ नहीं किया होता तो सम्भवत: आज भी जिनवाणी अलमारियों में बन्द पड़ी रहती। एतदर्थ धर्मेश का एवं उनके द्वारा संचालित शिक्षण-संस्थान का जितना भी आभार माना जाय, कम ही होगा।



धर्मेश को विचारों में डूबा देख अमित ने कहा - ''कहो भाई धर्मेश ! किन विचारों में डूबे हो ? क्या सोच रहे हो ? एक तुम हो, जो दिन-रात किसी न किसी चिन्ता में ही डूबे रहते हो, कुछ न कुछ सोच-विचार में ही अपना माथा खराव करते रहते हो; और एक मैं हूँ, जिसने कभी किसी के बारे में कुछ सोचा ही नहीं, कभी कोई चिन्ता-फिक्र की ही नहीं।

भाई! तुम स्वयं भी कम चिन्तनशील नहीं थे। ऊपर से पण्डित जिनेशचन्द्रजी जैसे एकान्तप्रिय मौनी बाबा का सत्संग करने लगे, सो अब तो पूछना ही क्या है तुम्हारी चिन्तनशीलता का ?''

भाई ! अव तो तुम एक काम करो, पीछी-कमण्डलु लेकर पूरे संन्यासी बन जाओ और चले जाओ किसी पहाड़ की चोटी पर।''

फटकारते हुये अमित ने आगे कहा - ''पागल कहीं का, यह भी कोई तरीका है जिन्दगी जीने का ? क्या हो गया है तुझे ? कहाँ वे बहत्तर वर्षीय वूढ़े-वाबाजी पण्डित जिनेशचन्द्रजी और कहाँ तू तीस वर्ष का हट्टा-कट्टा जवान ? क्या ये दिन धर्म-ध्यान के चक्कर में आकर इस तरह शरीर सुखाने के हैं। वाह भाई वाह ! तू भी कमाल करता है।

तेरी हठ से तेरे पिताजी अलग परेशान हैं। बेचारों ने एक से बढ़कर एक कितनी कन्यायें देखीं तेरे लिये; पर तू हाँ ही नहीं करता शादी के लिये। यह भी कोई वात है ? क्या शादी बुढ़ापे में करेगा? अरे ! छोड़ उन पण्डितजी का पीछा। अपनी दुकानदारी देख, धंधा संभाल और पिताजी को चिन्ता से मुक्त कर।

अरे मित्र ! अपना तो एक ही सिद्धान्त है कि खाओ, पिओ और मौज करो। थोड़े से दिनों की जवानी है, हँसी-खुशी से जिओ और जी भर कर पियो। भविष्य किसने देखा है, जिसकी चिन्ता करें।''

अमित ने धर्म की कटु आलोचना करते हुये आगे कहा -

"हालाँकि मेरी पत्नी भी मेरे इन विचारों और आदतों से परेशान रहती है, झिकझिक भी वह बहुत करती है। धर्म-पत्नी जो ठहरी। 'धर्म' का तो चक्कर ही कुछ ऐसा है; जिसके साथ भी यह 'धर्म' जुड़ जाता है; उसे तो परेशान होना ही होना है। तुम स्वयं ही देखलो न। 'धर्म' के चक्कर में पड़ते ही फँस गये न चिन्ताओं के चक्कर में। अपन तो ऐसे मस्तराम हैं कि अपनी नींद सोते हैं और अपनी नींद जागते हैं, चिन्ता में मरें हमारे शत्रु। हम चिन्ता करके अपने हाड़-मांस क्यों सुखायें? कभी-कभार कोई तनाव होता भी है तो दो-चार पैग पी लेते हैं। धर्म की तो क्या, हम तो धंधे की भी चिन्ता नहीं करते।

न कुछ लेकर आये थे, न कुछ लेकर जायेंगे ।
मुट्ठी बाँधे आये थे, हाथ पसारे जायेंगे॥

इसलिए बस, जितने दिन की जिंदगी है, उतने दिन मस्ती में ही क्यों न जियें। अन्त में तो हम सबको यहीं मिट्टी में मिलना ही है।"

धर्मेश मन ही मन सोच रहा था - "देखा ! कैसी फिलासफी झाड़ रहा है ? क्या यही अर्थ है इस वैराग्यवर्द्धक दार्शनिक कथन का ? जितने दिन जिओ, जी भर के पिओ, दिन-रात एक करके पैसा कमाओ और विषयानन्दी रौद्रध्यान में जीवन गमाओ, फलस्वरूप कुमरण कर नरक-निगोद में जाओ। वाह ! खूब अच्छा अर्थ निकाला ! कैसा पागलपन है यह इसका ?"

धर्मेश को अमित की नास्तिकता पूर्ण बातें सुनकर झुंझलाहट तो बहुत हुई; पर वह मन मारकर रह गया। वह सोचने लगा -

"यह कैसा पढ़ा-लिखा आदमी है, इसकी बातों का कोई ठिकाना ही नहीं, कभी कुछ कहता है कभी कुछ। एक क्षण पहले कहता है कि हम चिन्ता करके हाड़-मांस क्यों सुखायें ? चिन्ता करें हमारे शत्रु, अगले ही क्षण कहता है कभी-कभार तनाव होता भी है तो दो-चार पैग पी लेता हूँ। ..."

धर्मेश अमित को इतना भौतिकवादी नहीं समझता था। वह तो उसे एक पढ़ा-लिखा विवेकवान व्यक्ति मानता था। अमित का लम्बा लेक्चर सुनकर वह आश्चर्यचकित रह गया।

वह सोचने लगा - एक नहीं, तीन-तीन विषयों में पोस्ट ग्रेज्यूएशन करने वाला व्यक्ति धर्म के संबंध में इतना अनजान कैसे ?

जैन होकर भी जैनदर्शन के मूलभूत सिद्धान्तों से सर्वथा अनभिज्ञ होगा, इसकी धर्मेश को कल्पना भी नहीं थी। पर एक क्षण बाद ही उसे पण्डितजी द्वारा बताया गया वह सिद्धान्त याद आ गया, जिसमें पण्डितजी ने यह बताया था कि - **प्रत्येक विषय को जानने की ज्ञान की पर्यायगत योग्यता स्वतंत्र होती है।** और अब तो वैज्ञानिक और मनोवैज्ञानिक परीक्षणों से भी यह बात सिद्ध हो चुकी है कि बुद्धिमान व्यक्ति की बुद्धि भी हर क्षेत्र में एक जैसी कार्य नहीं करती। एक विषय के विशेषज्ञ व्यक्ति दूसरे विषय में सर्वथा अनभिज्ञ भी देखे जाते हैं; क्योंकि प्राप्तज्ञान में जिस विषय को जानने की योग्यता होती है; वही विषय उस ज्ञान का ज्ञेय बनता है, अन्य नहीं।

एक बहुत बड़े वैज्ञानिक के बारे में कहा जाता है कि उसे इतनी मोटी बात समझ में नहीं आ रही थी कि एक ही रास्ते से दो (छोटी-बड़ी) बिल्लियाँ अन्दर-बाहर आ-जा सकती हैं। अतः वह दोनों बिल्लियों को अन्दर-बाहर आने-जाने के लिए दो द्वार बनाने का आग्रह तबतक करता रहा, जबतक कि उसे एक ही द्वार से दोनों बिल्लियाँ निकालकर प्रत्यक्ष नहीं दिखा दीं गईं।

यह जरूरी नहीं कि एक बहुत बड़ा इंजीनियर, डॉक्टर, ज्योतिषी, और आई.ए.एस. व्यक्ति भी अच्छी चाय व स्वादिष्ट साग-सब्जी बना सके। साग-भाजी बनाना तो दूर, बहुत से बुद्धिमान व्यक्ति तो शर्ट में बटन भी नहीं टाँक पाते। इसी कारण तो बालकों को उनकी रुचि के अनुरूप ही पाठ्य विषयों का चुनाव करने की सलाह दी जाती है। माँ-बाप द्वारा बालक की रुचि के विरुद्ध पाठ्य विषय दिलाने पर अधिकांश बालक असफल होते देखे जाते हैं, उनकी असफलता का कारण भी यही है कि **बुद्धि पर्यायगत योग्यतानुसार अपने निश्चित विषयों में ही चलती है।**

जैनदर्शन में तो इसे एक बहुत बड़े सिद्धान्त के रूप में स्वीकार किया गया है। वहाँ कहा है कि **प्रत्येक पदार्थ को जानने की ज्ञान की पर्यायगत योग्यता बिल्कुल स्वतंत्र होती है। प्राप्त ज्ञान में जिस विषय को जानने-समझने की योग्यता होगी, वही विषय उस ज्ञान का ज्ञेय बनेगा, अन्य नहीं।**

यह सैद्धान्तिक वात धर्मेश ने जब सुनी थी, उस समय इसकी उपयोगिता उसकी समझ में इतनी स्पष्टरूप से ख्याल में नहीं आई थी; पर अब अमित के जीवन में अक्षरश: घटित होते देख धर्मेश को सब-कुछ स्पष्ट हो गया।

बस इसी सिद्धान्त का सहारा लेकर धर्मेश ने अमित की बेसिर-पैर की बातों पर हुई अपनी झुंझलाहट को उपशमित करते हुए सोचा -

अस्तु अबतक जो हुआ सो हुआ। संभव है अब उसकी समझ में कुछ आ जाय। प्रतिसमय का परिणमन जब स्वतंत्र है तो भूतकाल के आधार पर हताश क्यों हों ? प्रयत्न करने में हानि ही क्या है ?

यह सोचकर धर्मेश ने अमित को प्रेमपूर्वक समझाया - "मित्र ! अपने बारे में, आत्मा-परमात्मा के बारे में, संसार, शरीर व भोगों की क्षणभंगुरता एवं संसार की असारता के बारे में विचार करने से माथा खराब नहीं होता, बल्कि ऐसे विचार से अनादिकाल से खराब हुआ माथा ठीक होता है।"

अपनी बात को आगे बढ़ाते हुए धर्मेश ने कहा - "माथा खराब होता है पाँचों इन्द्रियों के विषयों में डूबे रहने से, माथा खराब होता है मोह-राग-द्वेष और कषाय के कलुषित भावों से, दिन-रात इन्हीं भोगों की सामग्री के संग्रह करने की धुन में, और गैरकानूनी व्यापार-धंधों से चिपके रहने में। भाई ! सबसे अधिक माथा खराब होता है पर का भला-बुरा करने की अनधिकृत चिन्ता में। अत: यदि तुम अपना भला चाहते हो, अपना माथा ठीक रखना चाहते हो तो मैं जो कहता हूँ, उस पर गंभीरता से विचार करो और अपने इस भौतिकवादी भोगप्रधान दृष्टिकोण को बदलो। तभी तुम्हारी ज्ञानपर्याय में तत्त्वज्ञान समझने योग्य पात्रता पकेगी। अन्यथा धर्म के बारे में तुम्हारी समझ में कभी कुछ नहीं आयेगा।

अमित ! मैं जानता हूँ कि तुझे मेरी सलाह की गर्ज नहीं है, पर न जाने क्यों मेरा मन मुझे तुझसे कभी-कभी कुछ कहने को मजबूर कर देता है। इसकारण मैं तुझसे वहुत कुछ कह गया हूँ। इसी सिलसिले में एक बात और कहने का मन हो रहा है। वह यह कि - **ये जो भाव होते हैं, इनका फल क्या होगा ?** इस वात पर भी थोड़ी गंभीरता से विचार करना।

भाई ! मुझे और कोई चिन्ता नहीं है। आजकल मैं जब कभी थोड़ी-बहुत देर के लिए दुकान पर जाता हूँ तो वहाँ मेरा मन ही नहीं लगता। मैं वहाँ बैठा-बैठा भी इसी संदर्भ में सोचता रहता हूँ। इससे मैं बहुत से अनर्थकारी विचारों से बचा रहता हूँ। यदि तुम भी अपने में होनेवाले भावों के बारे में विचार करोगे और उनसे होनेवाले पुण्य-पाप के बारे में चिन्तन करोगे तो तुम्हारे जीवन में भी क्रान्तिकारी परिवर्तन हो सकता है और अनोखे आनन्द की झलक आ सकती है।''



अमित ने रूखा-सा जवाब दिया - ''मित्र ! तुम्हारी चिन्ता और चिन्तन तुम्हें ही मुबारक हो और तुम्हारे जैसा जीवन भी तुम्हें ही मुबारक हो, हम इस चिन्ता या चिन्तन के चक्कर में पडें ही क्यों ? हमारे जीवन को ऐसा खतरा क्या है, जो हम इन चक्करों में पड़ें ? अरे ! हमारे जैसा मजे का जीवन तो अभी लाखों में एकाध का भी शायद ही होगा।''

धर्मेश ने कहा – "भाई चिन्ता और चिन्तन में मौलिक अंतर है, चिन्ता अज्ञान की उपज है, तत्त्वज्ञान संबंधी अज्ञानता से उसका जन्म होता है और वह स्वयं आकुलता की जननी है। तथा चिन्तन वस्तुस्वरूप की शोध-खोज का सर्वोत्तम साधन है, *आत्मोपलब्धि का और अज्ञानजन्य आकुलता को मेटने का अमोघ उपाय है।*"

अमित-पढ़ा-लिखा अवश्य है, पर यह चिन्ता व चिन्तन का अन्तर उसकी समझ में नहीं आया। तभी तो उसने धर्मेश की बात पर ध्यान नहीं दिया, संतोष प्रगट नहीं किया।

धर्मेश अबतक अमित की रुचि और स्वभाव को भली-भाँति समझ चुका था, अतः उसने उसकी बात को बहुत हल्के से लिया, उसके कहने का कोई बुरा नहीं माना; क्योंकि उसे उससे ऐसे ही उत्तर की आशा थी।

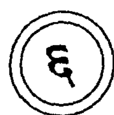
शान्तभाव से धर्मेश ने उससे कहा – "कोई बात नहीं, मैं अपने शब्द वापिस लेता हूँ। मुझसे मित्रता के मोह में पड़कर यह भूल हो गई जो मैंने तुम्हें *बिना माँगे सलाह दी। सचमुच किसी को भी बिना माँगे कभी भी सलाह नहीं देनी चाहिये।*

भाई ! परामर्श मानने के लिये कोई किसी को बाध्य नहीं कर सकता, करना भी नहीं चाहिये। इसके लिये तुम पूर्ण स्वतंत्र हो, पर कभी-कभी तुम मिलने-जुलने तो आते ही रहना। मिलते-जुलते रहने में हानि ही क्या है ? *विचारों के आदान-प्रदान से कभी किसी को कुछ न कुछ लाभ होगा ही।*"

अमित ने कहा – "हाँ, हाँ; आऊँगा, अवश्य आऊँगा। न मिलने-जुलने का तो प्रश्न ही कहाँ है ? आखिर बचपन के मित्र जो हैं और विचारशील व्यक्तियों में मतभेद तो होते ही हैं, हाँ मनभेद नहीं होना चाहिये।"

धर्मेश ने मुस्कराकर कहा – "हाँ मित्र ! तुम्हारा यह कहना शत-प्रतिशत सही है। मैं भी तुम्हारी इस बात से पूर्ण सहमत हूँ।"

अमित धर्मेश की दार्शनिकता पर ठहाका लगाता हुआ घर की ओर चला गया।



गम्भीर, विचारशील और बड़े व्यक्तित्व की यही पहचान है कि वे नासमझ और छोटे व्यक्तियों की छोटी-छोटी बातों से प्रभावित नहीं होते, किसी भी क्रिया की बिना सोचे-समझे तत्काल प्रतिक्रिया प्रगट नहीं करते। अपराधी पर भी अनावश्यक उफनते नहीं हैं, बड़बड़ाते नहीं हैं; वल्कि उसकी बातों पर, क्रियाओं पर शान्ति से पूर्वापर विचार करके उचित निर्णय लेते हैं, तदनुसार कार्यवाही करते हैं, और आवश्यक मार्गदर्शन देते हैं।

धर्मेश के समक्ष अपने धार्मिक अज्ञान और नास्तिकता का परिचय देते हुये अमित ने जो भाषणबाजी की, उसके उत्तर में धर्मेश ने अधिक कुछ न कह कर अमित से बड़ी ही शालीनता से मात्र दो बातों पर विचार करने के लिये कहा।

अमित उस समय तो धर्मेश की उपेक्षा करके, उसकी बातों से किसी तरह पीछा छुड़ाकर चला गया; पर उन बातों ने उसका पीछा नहीं छोड़ा। ये बातें संक्रामक रोग की भाँति उसके मन-मस्तिष्क पर छा गईं। अबतक अमित पर धर्मेश के गंभीर व्यक्तित्व की कुछ-कुछ छाप पड़ चुकी थी, इस कारण वह रात में बहुत देर तक उन्हीं बातों के बारे में सोचता रहा -

यह चारित्र कैसे बन रहा है ? ये जो भाव हो रहे हैं, इनका क्या फल लगेगा ?-

अमित ने सोचा - आखिर, धर्मेश इन बातों से समझाना क्या चाहता है, वह कहना क्या चाहता है ? वैसे बातें तो साधारण-सी लगतीं हैं, पर धर्मेश जैसा व्यक्ति कह रहा है, जिसके सामने श्रोता बने बैठे बड़े-बड़े विद्वान् सिर

हिलाते हैं, वाह-वाह करते हैं, गजव… गजव… कहते हैं, दूर-दूर से लोग उसे सुनने आते हैं। अत: उसकी वातों में वजन तो होना ही चाहिए ?…

दूसरे दिन ही अमित ने धर्मेश से कहा - "मित्र ! तुम तो जानते ही हो कि मैं कितना व्यस्त रहता हूँ। अनेक सामाजिक, धार्मिक संस्थाओं से जुड़ा हूँ, थोड़ा-बहुत राजनीति में भी दखल रखना ही पड़ता है; क्योंकि मेरा धंधा भी कुछ ऐसा ही है न - जिसमें राजनैतिक प्रभाव तो चाहिए ही, अन्यथा आये दिन कुछ न कुछ झंझट हुए बिना न रहे। आज इन्कम टैक्स वालों का छापा तो कल पुलिस वालों की तहकीकात। फिर भी मैंने तुम्हारी वात पर विचार करने की पूरी-पूरी कोशिश की।

देखो भाई ! तुमने दो बातों पर विचार करने को कहा था। उनमें पहली जो चारित्र वाली बात है, वह तो साधु-संतों के सोचने की बात है। अपने में न तो अभी चारित्र धारण करने की योग्यता है और न निकट भविष्य में ऐसी कोई सामर्थ्य दिखाई देती है।

रही बात 'भावों' की, सो उसके तो हम कीड़े ही हैं। दिन-रात भावों में ही खेलते हैं। हमारा सारा व्यापार-धंधा 'भावों' पर ही आधारित है। विस्तर छोड़ते ही सबसे पहले हमारे हाथों में शेयर के बाजार भावों का अखबारी पन्ना ही तो होता है। बाजार-भावों का जैसा अध्ययन हमें है, वैसा शायद ही किसी को होगा। कोई माई का लाल इसमें हमें मात नहीं दे सकता। बाजार-भाव दो तरह के होते हैं, एक ..."

धर्मेश ने अमित के द्वारा रात भर सोची हुई भावों की विस्तृत व्याख्या सुनकर पहले तो अपना माथा ठोक लिया। उसे विचार आया कि दिन-रात शेयर के धंधे में मस्त व व्यस्त अमित को शेयर के भाव नहीं दीखेंगे तो और क्या दीखेगा ?

धर्मेश ने हँसकर कहा - "वाह ! वाह !! अमित, वाह !!! तुमने ठीक ही जवाब दिया है। तुमसे यही अपेक्षा थी। इसमें तुम्हारा कोई दोष नहीं, यह तो तुम्हारी दृष्टि का दोष है। जिसकी आँख पर जैसा हरा-पीला चश्मा चढ़ा होगा, उसे सब वस्तुएँ वैसी ही तो दृष्टिगत होंगी।"

अमित ने तो बहुत सोच-समझकर उत्तर दिया था। उसे ऐसी आशा बिल्कुल नहीं थी कि उसे धर्मेश के सामने नीची नजर करनी पड़ेगी।

उसने विनम्र होकर पूछा - "भाई ! इसमें मैंने क्या गलत कहा ?"

धर्मेश ने कहा - "भाई ! तुम्हारे शेयर के भावों से हमें क्या लेना-देना ? बाजार भाव कितने प्रकार के होते हैं - यह तो अर्थशास्त्र का विषय है। हमने तो तुमसे धर्मशास्त्र के संदर्भ में आत्मा के शुभ-अशुभ, पुण्य-पाप, राग-द्वेष भावों के बारे में; वीतराग-सराग, शुद्ध-अशुद्ध भावों के बारे में; संक्लेश-विशुद्ध-शुद्ध भावों और आर्त-रौद्र भावों के बारे में विचार करने को कहा था और तुम समझे शेयर मार्केट के भाव। पर इसमें तुम्हारा कोई दोष नहीं है। इन्द्रियज्ञान का तो स्वरूप ही ऐसा होता है। तत्त्वज्ञान के बारे में तो बात ही क्या कहें, इन्द्रियज्ञान से तो लौकिकज्ञान भी यथार्थ नहीं होता। देखो न ! आसमान में दिखाई देने वाले सूरज-चाँद-सितारे एवं उड़ते पक्षियों का जैसा वास्तविक आकार एवं रंग होता है, क्या वे हमें वैसे ही आकार व रंग में दिखाई देते हैं ? नहीं, वैसे ही दिखाई नहीं देते; क्योंकि उनका छोटा-बड़ा दीखना उनकी दूरी एवं अपनी आँख की ज्योति पर निर्भर करता है।

इस उदाहरण से स्पष्ट है कि - **वस्तुओं के अनुसार ज्ञान नहीं होता, बल्कि अपने इन्द्रिय ज्ञान की योग्यतानुसार ही वस्तुयें जानी जातीं हैं।**

इसे ही शास्त्रीय भाषा में ऐसा कहा गया है कि - **ज्ञेयों के अनुसार ज्ञान नहीं होता, बल्कि अपने-अपने प्रगट ज्ञान पर्याय की योग्यता के अनुसार ज्ञेय जाने जाते हैं। अर्थात् जिसकी ज्ञान पर्याय में जिस समय जिस पदार्थ को जिस रूप में जानने की योग्यता होती है, वह ज्ञान उसी पदार्थ को उसी रूप में ही जानता है।**"

इसी सिद्धान्त के सहारे धर्मेश ने अपने मन को समझाया कि अमित ही क्या, अमित जैसे और भी असंख्य व्यक्ति हैं, हो सकते हैं; जो जिनवाणी के कथन को अपने मिथ्या अभिप्राय के अनुसार ग्रहण करते हैं। अत: वे क्रोध के पात्र नहीं हैं; उन पर रोष नहीं करना। बेचारों के वर्तमान ज्ञान पर्याय में जैसी योग्यता होगी, वे सुने कथन को वैसा ही तो ग्रहण कर सकेंगे। वे आप

जैसी समझ कहाँ से लायेंगे ? जिनकी भली होनहार नहीं होती, उनके साथ ऐसे ही बनाव बनते हैं। साधनों के सद्भाव में भी वे उनसे लाभ नहीं ले पाते। ऐसे लोग तत्त्ववेत्ता ज्ञानियों के हर कथन को अन्यथा ग्रहण करके अपना अज्ञान पुष्ट करके राग-द्वेष करते रहते हैं और ज्ञानीजन इसी सिद्धान्त के सहारे अपने में उठने वाले संकल्प-विकल्पों का शमन करके शान्त रहते हैं, विशुद्ध भाव ही रखे रहते हैं।

अमित के पल्ले तो अभी भी अधिक कुछ नहीं पड़ा; पर वह चुपचाप सुनता रहा और कुछ सोचता रहा।

योग्यता का अर्थ

जीव की प्रत्येक समय की पर्याय में जो राग या वीतराग रूप परिणमन करने की स्वतंत्र शक्ति है, उसे ही उपादान की योग्यता कहते हैं।

उपादान की योग्यता कहो, कार्य सम्पन्न होने का स्वकाल कहो, क्रमबद्ध पर्याय कहो, होनहार कहो, पुरुपार्थ कहो, काललब्धि कहो, पर्यायगत धर्म कहो - सब एक ही बात है, सब का एक ही अर्थ है।

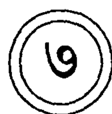
जिस द्रव्य में जब जो भी कार्य होता है वह स्वयं द्रव्य की अपनी तत्समय की उपादानगत योग्यता से ही होता है। समय-समय का क्षणिक उपादानकारण पूर्ण स्वाधीन है, स्वतंत्र है, स्वयंसिद्ध है। उसे पर की कोई/कोई अपेक्षा नहीं है।

यद्यपि कार्य सम्पन्न होने के काल में कार्य के अनुकूल परद्रव्य रूप निमित्त अवश्य ही होते हैं; परंतु उन निमित्तों का कार्य के सम्पन्न होने में कोई/कोई योगदान नहीं होता। ऐसा ही वस्तु का स्वरूप है।

निमित्त मात्रं तत्र, योग्यता वस्तुनि स्थिता ।
बहिर्निश्चय कालस्तु, निश्चितं तत्त्व दर्शिभिः ॥

वस्तु में स्थित परिणमन रूप योग्यता ही कार्य का नियामक कारण है, जिसे अंतरंग निमित्त कहा है। निश्चयकाल द्रव्य को बाह्य निमित्त कारण कहा है।

गाथा ५८०, [illegible]



अमित खानदानी उद्योगपति है। उसके बाप-दादा के जमाने के कई कल-कारखाने हैं, जिनसे उसे अच्छी आय है। साथ ही वह स्वयं शेयर बाजार में बड़ा ब्रोकर भी है, आमदनी तो इसमें भी खूब है; पर मानसिक शान्ति बिल्कुल नहीं है, हो भी नहीं सकती; क्योंकि शेयर बाजार का कुछ स्वरूप ही ऐसा है कि जब भाव चढ़ते हैं तो अनायास ही आसमान छूने लगते हैं और जब उतरते हैं तो अनायास ही पाताल तक पहुँच जाते हैं। कब/क्या होगा, पहले से कुछ ठीक से अनुमान भी नहीं लगता। इस कारण लोगों के परिणामों में बहुत उथल-पुथल होती है, हर्ष-विषाद भी बहुत होता है। दोनों ही स्थितियों में नींद हराम हो जाती है। व्यक्ति सामान्य नहीं रह पाता। ऐसे लोगों को जब अधिक तनाव होता है तो उन्हें सामान्य होने के लिये नशीली वस्तुओं का सहारा लेना ही पड़ता है, जो न सामाजिक दृष्टि से सम्मानजनक है और न ही सेहत के लिये हितकर। तथा धार्मिक दृष्टि से तो पापमय परिणाम होने से ये त्याज्य ही हैं।

अमित इस दोष से नहीं बच सका। वह भी यदा-कदा मद्यपान कर ही लेता है। जो मद्यपान करता है वह उसके सहभावी दुर्गुणों से भी कैसे बच सकता है ? अमित मद्यपान के सहभावी दोषों से भी नहीं बच सका। शनैः-शनैः वह सातों व्यसनों की गिरफ्त में आ गया।

धर्मेश को बारम्बार विचार आता कि काश ! किसी तरह अमित को अपनी वर्त्तमान पाप परिणति की पहचान हो जावे और इसके फल में होने वाली अपनी दुर्दशा का आभास हो जावे तो फिर निश्चित ही उसके जीवन में परिवर्तन आ जायेगा। अभी उसे इस पाप परिणति के दुष्परिणामों का पता नहीं है, इस कारण बेचारा दिन-रात पापाचरण में रचा-पचा रहता है।

जिस तरह एक अबोध बालक विषधर नाग के बच्चे से निर्भय व निर्द्वन्द भाव से खेलता है; क्योंकि उस भोले बालक को पता ही नहीं है कि यह विषधर का बच्चा कितना खतरनाक है, कितना प्राणघातक है ? यदि यह क्रुद्ध होकर काट खाये तो मरण निश्चित ही समझो। यदि उस बालक को उस हानि का ज्ञान हो जाये तो क्या वह फिर उससे खेलेगा ?

ठीक इसी तरह अपने विचित्र पाप परिणामों के फल से अनजान व्यक्ति ही उन पाप परिणामों में निरन्तर रमा रहता है और जिसे यह भान हो जाता है कि वे परिणाम काले नाग जैसे जहरीले हैं, तो फिर वह उनसे बचने का उपाय सोचता है।

यही सब सोचकर धर्मेश ने अमित को दो बातों पर गम्भीरतापूर्वक विचार करने के लिए प्रेरित किया; पर अमित के पल्ले अभी तक कुछ नहीं पड़ा। पड़ता भी कैसे ? वह धर्मेश की बात ध्यान से सुनता ही कहाँ है ? वह तो अपनी ही धुन में रहता है। उसका ध्यान ही कोई दूसरी दिशा में चल रहा है, इस कारण वह धर्मेश के कहे गये अभिप्राय को समझ ही नहीं पाता। समझना कोई बड़ी बात नहीं है; पर समझने की रुचि एवं तदनुरूप भावों का होना अत्यन्त दुष्कर है।

अमित भले ही धनाढ्य है, परन्तु उसकी प्रवृत्तियों से उसकी पत्नी, पुत्र और परिजन - सभी परेशान हैं, दु:खी हैं। संसार का स्वरूप ही कुछ ऐसा है कि यहाँ सबको सभी प्रकार की अनुकूलतायें नहीं मिल पातीं; क्योंकि ऐसा अखण्ड पुण्य किसी के भी पास नहीं होता। ऐसे दु:खी जीवों के दु:ख को देखकर धर्मात्माओं के हृदय से करुणा की धारा प्रवाहित हुए बिना नहीं रहती, जो उन्हें जगत के हितार्थ सत्य सिद्धान्तों का निरूपण करने को प्रेरित करती है।

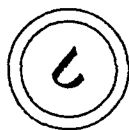
अमित एवं उसके परिवार को मानसिक दु:ख से दु:खी देख धर्मेश के हृदय में सहज करुणाभाव उमड़ पड़ता और वह उन्हें समझाने लगता। जब अमित उसकी बातों की उपेक्षा करता तो स्वयं दु:खी होने के बजाय अपने मन में यह सोचकर संतोष कर लेता कि मेरे समझाने से अमित की समझ सही हो

वाली नहीं है, मैं तो निमित्तमात्र हूँ। जब तक उसकी ज्ञान पर्याय में स्वयं समझने की योग्यता नहीं आयेगी, तब तक मैं तो क्या, भगवान भी उसकी समझ को सही नहीं कर सकते।

ऐसी पक्की श्रद्धा होने पर भी सभी जीवों को भूमिकानुसार बार-बार समझाने का भाव आये बिना नहीं रहता। धर्मेश को जब जैसे विकल्प आते, हैं तद्नुसार वह मित्र के रागवश अमित को सन्मार्ग पर लाने का प्रयत्न करता रहता। उधर अमित भी धर्मेश को धर्म के चक्कर से निकालने की कोशिश करता। यही तो राग की विचित्रता है।

अमित का धर्मेश को समझाने का यह क्रम तबतक चलता रहा, जबतक कि वह भिन्नता की हद से नहीं गुजर गया। •





धर्मेश बचपन से ही सांसारिक भोगों से उदास था। उस समय उसे स्वयं भी उस उदासी के कारण का पता नहीं था; पर उसका मन मित्र-मंडली में, राग-रंग में रमता नहीं था, घर के किसी काम में लगता नहीं था। लौकिक पढ़ाई के प्रति भी वह उदासीन ही रहा करता था, इस कारण वह स्कूल में अधिक पढ़ भी नहीं सका था।

यद्यपि उसकी लौकिक शिक्षा मैट्रिक तक ही हो पाई थी; पर वह बुद्धिमान बहुत था, प्रतिभासम्पन्न भी था। उसमें जन्मजात कुछ ऐसी बौद्धिक प्रतिभा थी, बाल्यकाल से ही ज्ञान-वैराग्य की कुछ ऐसी पर्यायगत योग्यता थी; जो उसकी बातचीत एवं व्यवहार में स्पष्ट झलकती थी। निश्चित ही यह सब उसके जन्म-जन्मान्तरों के संस्कारों का ही सुफल होना चाहिए, अन्यथा इतनी-सी उम्र में यह सब कैसे संभव था ?

आकर्षक मुखाकृति, गौरवर्ण सुगठित शरीर, धीर-वीर प्रकृतिवाला असाधारण अन्तर्बाह्य व्यक्तित्व का धनी धर्मेश एक व्यापारी बाप का बेटा था। उसके पिता का निजी व्यवसाय था, बड़ी दुकान थी, अच्छा कारोबार था। अत: उनका कहना था कि - धर्मेश का मन स्कूल की पढ़ाई में नहीं लगता तो न सही, कौनसी नौकरी करानी है, जिसंके लिये सनद-सर्टिफिकेट या प्रमाण-पत्र चाहिये। खानदानी दुकान है, उसी पर बिठा देंगे। उस पर बैठना पसंद नहीं करेगा तो उसकी मर्जी के मुताबिक नई दुकान करा देंगे। कुछ भी न करे तो भी उसे कोई कमी रहने वाली नहीं है।

बड़ा होने पर धर्मेश दुकान पर बैठने तो लगा, पर दुकानदारी में भी उसका मन नहीं लगा। लगता भी कैसे? क्योंकि उसकी तो होनहार ही कुछ और थी।

धर्मेश की माँ को चिंता हुई कि आखिर इस तरह कैसे काम चलेगा ? फिर कल विवाह तो होगा ही, बाल-बच्चे भी होंगे। इन सब का जीवननिर्वाह कैसे होगा ? अभी हमारी मान-मर्यादा से इसके भाई-भाभी भले कोई कुछ न कहें, पर मन में तो आ ही सकता है न ? भाई-भाभियों के भरोसे उन पर भार बनकर जीवनभर तो नहीं रहा जा सकता। भले ही वे भी छोटे भाई के अनुरागवश कुछ न कहें; परन्तु दूसरों के सहारे रहना कोई गौरव की बात भी तो नहीं है। सभी को आत्मनिर्भर होकर स्वावलंबी बनकर रहना चाहिये।

यही परिवार वालों की चिंता का विषय था। उन्हें क्या पता था कि धर्मेश तो सच्चा स्वावलंबी बनकर जीने वाला है। न केवल स्वयं स्वावलंबी बनेगा; बल्कि जगत के जीवों को भी सच्चे स्वावलंबन का सबक सिखायेगा। अपना जीवन सार्थक व सफल बनायेगा। नाम तो मात्र माता-पिता की रुचि का परिचायक होता है। नामकरण के समय बालक क्या जाने अपने नाम के रहस्य और माहात्म्य को ? फिर भी धर्मेश ने यथा नाम तथा गुण कहावत को सार्थक कर दिया।

धर्मेश के पिता ने अपने मन को और परिवार को इस प्रकार समझाने का प्रयास किया कि कोई बात नहीं, जब शादी-ब्याह हो जाएगा, माथे पर जिम्मेदारी आयेगी, तब सब ठीक हो जाएगा। अभी उम्र ही क्या है ? इस उम्र में हर कोई कवि बनने की धुन में तुकबन्दी लिख-लिख कर डायरियाँ भरता रहता है, कोई लेखक बनने की धुन में रात-रात भर जाग-जाग कर कागज के पन्ने लिखता-फाड़ता रहता है। संभव है धर्मेश का संत बनने का यह सपना भी सुबह-शाम तक का ही हो। यह तो क्षणिक उफान है, जो समय पाकर स्वतः शान्त हो जायेगा। प्रौढ़ होने तक भी जिनकी रुचि अस्तित्व में रहे, वृद्धिंगत होती रहे, वे ही कवि और लेखक बनते हैं।

यद्यपि धर्मेश अब नाबालिग नहीं रहा था। वह पूरे पैंतीस वर्ष पार कर चुका था, पर माता-पिता को तो साठ वर्ष का बेटा भी आठ वर्ष जैसा लगता है। इस मानवीय मनोविज्ञान के अनुसार उनकी दृष्टि में तो धर्मेश अभी भी बालक

ही था। पुत्र व्यामोह में वे यह सोच भी नहीं सकते थे कि धर्मेश प्रौढ़ और समझदार हो गया है।

धर्मेश की मन:स्थिति दिन-प्रतिदिन जगत-जंजाल से उदास होती चली गई। अन्तत: उसने इस जगत-जंजाल को तिलांजलि देने का मन बना ही लिया। उसे ऐसा लगने लगा था कि इस जगत के जंजाल में फँसे रहकर मुझसे सत्य की शोध संभव नहीं हो सकेगी; क्योंकि इस काम में सम्पूर्ण समर्पण आवश्यक है। बस इसी सोच के कारण वह विवाह के बन्धन में पड़कर अपनी बौद्धिक शक्ति और समय का विभाजन नहीं चाहता था। जबकि उसके माता-पिता जल्दी से जल्दी उसका विवाह करके उसे गृहस्थ जीवन में प्रविष्ट कर देना चाहते थे और स्वयं अपने उत्तरदायित्व से निर्वृत्त हो जाना चाहते थे। अत: यह स्वाभाविक ही था कि उसकी शादी की चर्चा चलती रहे, जो धर्मेश को कतई पसंद नहीं थी, बिल्कुल भी अच्छी नहीं लगती थी। फिर भी वह माता-पिता के दिल को दु:खी नहीं करना चाहता था, इस कारण वह अबतक शादी से स्पष्ट इन्कार करने का साहस नहीं जुटा पाया था।

एक से बढ़कर एक, अनेक ऐसे रिश्ते आये जो सभी दृष्टिकोणों से सर्वोत्तम थे; परंतु माता-पिता करें तो करें भी क्या ? धर्मेश द्वारा स्पष्ट 'हाँ' भरे बिना उन्हें आश्वस्त भी तो नहीं किया जा सकता था और इन्कार करना उन्हें इष्ट नहीं था। इसकारण वे भी टाल-मटोल ही करते रहे। पर वे अच्छी तरह जानते थे कि यह बात लम्बे काल तक चलने वाली नहीं है।

धर्मेश भी आखिर इस तरह कब तक टाल-मटोल करता। अत: अब उसने शादी से सर्वथा इन्कार करने का निश्चय कर ही लिया और मन में संकल्प कर लिया कि - मैं साफ-साफ कह दूँगा कि मैं शादी नहीं करना चाहता।

फिर वह सोचता है - क्या इतना कह देने मात्र से वे मान जायेंगे ? वे भी इस मामले में कम समझदार नहीं हैं। वे मुझे समझायेंगे, कहेंगे - बेटा ! तीर्थंकरों तक ने पहले शादी-विवाह किये, बेटा-बेटी हुये, पारिवारिक उत्तरदायित्व संभाला, समाज-सेवा की, राज-पाट संभाला; तत्पश्चात् दीक्षित हुये, स्व-पर कल्याण किया। यही राजमार्ग है। आत्म-कल्याण करने [illegible] ...

कौन रोकता है? पर उसका भी समय होता है; अभी तुम्हारी उम्र ही क्या है? तीर्थंकरों का जीवन ही तो तुम्हारा आदर्श है; क्या तुम उनसे भी आगे बढ़ना चाहते हो ? ... तब मैं क्या करूँगा, क्या कहूँगा उनसे ?

एक क्षण रुककर धर्मेश पुनः सोचता है - आखिर मैं भी तो उन्हीं का वेटा हूँ। मैं उन्हें यह समझाऊँगा कि तीर्थंकरों जैसी सामर्थ्य मुझ में कहाँ ? उनमें असीमित शक्ति होती है, वे सब कर सकते हैं, मुझसे वैसा करना संभव नहीं है। मैं प्रथम तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव के तीर्थकाल का महामानव नहीं, बल्कि चौबीसवें तीर्थंकर भगवान महावीर के तीर्थकाल का एक क्षुद्र मनुष्य हूँ, अतः क्यों न मैं तीर्थंकर महावीर को ही अपना आदर्श मानूँ, जब उन्होंने भी शादी नहीं की तो मैं क्यों करूँ ? इस मशीनी युग में जीवन की भी कोई गारंटी नहीं; कभी भी/कहीं भी जीवन-लीला समाप्त हो सकती है। अतः आप मुझे मेरी मर्जी पर छोड़ दीजिये। और मुझे मंगल आशीर्वाद दीजिये कि मैं अपने उद्देश्य में सफल होऊँ।

मेरे इतना कहने पर निश्चित ही वे मान जायेंगे - ऐसा मुझे पूर्ण विश्वास है।

आखिर उसने अपने संकल्प के अनुसार माँ-बाप को यह विश्वास दिला ही दिया कि हम कुछ भी करें; पर यह न तो शादी ही करेगा और न धन्धा-पानी ही।

इसप्रकार जब धर्मेश के माता-पिता को यह विश्वास हो गया कि धर्मेश अपने इरादे में पक्का है, उस पर हमारे रोने-धोने का कोई असर नहीं होगा तो वे समताभाव धारण कर चुप हो गये; और तत्त्वज्ञान के सहारे उन्होंने धीरे-धीरे अपने मन को धर्मेश की भावनाओं के अनुकूल मोड़ लिया। फिर जब तक वे जिये, तन-मन-धन से धर्मेश का सहयोग ही करते रहे। धर्मेश भी अपना काम करते हुये पुराणपुरुष श्रवणकुमार की भाँति माता-पिता की सेवा में पूर्ण समर्पित रहा। •

१

एक दिन अमित को सुध-बुध खोये बेडरूम के बाहर बरामदे में बिना बिछौने के ही जमीन पर अर्द्धमूर्च्छित हालत में पड़े-पड़े बड़बड़ाता देख उसकी पत्नी सुनन्दा ने अपना माथा ठोक लिया। और उलाहने के स्वर में भगवान को सम्बोधित करते हुए कहने लगी -

"हे विधाता! यह क्या किया तूने ? क्या तूने मेरे भाग्य में भी वही सब लिख भेजा है, जो मेरी माँ जीवन भर से भोग रही है और अपने दिन रो-रो कर काट रही है। मैंने ऐसे क्या पाप किये, जिनका इतना बड़ा दण्ड तूने मुझे दे डाला है ? क्या अब ये दिन भी देखने पड़ेंगे? आज यहाँ पड़े हैं, कल सड़क की नाली पर पड़े होंगे। क्या अब घर की मान-मर्यादा भी बाहर बाजार की गली-गली में ··· ? हे भगवान! पीहर में पिता के इन्हीं दुर्व्यसनों के कारण मेरी माँ और हम सब भाई-बहिन परेशान रहे और यहाँ पतिदेव भी ऐसे ही मिल गये। अब क्या होगा ?"

भयंकर भविष्य की कल्पना मात्र से वह सिहर उठी, इस कारण उसे चक्कर-सा आ गया और वह गिरते-गिरते बची।

नारी स्वभाव के अनुसार सुनन्दा की उर्वरा चित्तभूमि में बचपन से ही अपने सुखमय जीवन जीने की असीम आशा-लताएँ अंकुरित हो रहीं थीं; पर उसके दुर्व्यसनी पिता और शराबी पति के संयोग में आने से वे आशालताएँ पल्लवित, पुष्पित और फलित होने से पहले ही मुरझा गईं।

यद्यपि पिता की दुर्दशा और माँ का दु:ख देख-देखकर भी वह कम दु:खी नहीं थी; पर उसने उस समय तो किसी तरह अपने मन को समझा लिया था। वह सोचती -

"वचपन का बहुभाग तो बीत ही गया। थोड़ा समय जो शेष है, वह भी भाई के सहारे बिता लूँगी। सूखे बाँस को सीधा करने के प्रयत्न में उसके टूटने की ही अधिक संभावना रहती है, अत: अब पिता से कुछ कहना-सुनना व्यर्थ है और अव मुझे यहाँ रहना ही कितना है, वर्ष-दो वर्ष में मेरी शादी हो जाएगी, नया घर वसेगा, फिर क्या ? खूब आनंद से रहेंगे।

उसे क्या पता था कि उसके दुर्भाग्य की यात्रा कितनी लम्बी है ? अभी और कवतक ये दुर्दिन देखने पड़ेंगे ? पति को इस हालत में देखकर उसकी आँखों के आगे अंधेरा-सा छा गया। मानो उसका सारा भविष्य अंधकारमय हो।



जव सुनन्दा की शादी की वात उठी, सगाई का प्रस्ताव आया, उस समय उसका भाई वहुत छोटा था, माँ की घर में कुछ चलती नहीं थी, मद्यपायी पिता मनमोहन अपनी स्थूल दृष्टि से केवल बड़ा घर और लड़के के बाह्य व्यक्तित्व को ही देख-परख पाया। श्रीसम्पन्न होने से ठाठ-वाट तो रईसों जैसे थे ही, देखने में लड़का भी हृष्ट-पुष्ट और सुंदर था। लड़की की राय लेना, उसकी पसंदगी पूछना तो उस खानदान की तौहीन समझी जाती थी। समाज और कुटुम्बियों का सोच यह था कि - पिता कोई पागल थोड़े ही होते हैं और अपनी संतान को जानबूझकर कौन गड्ढे में डालना चाहेंगे। फिर कल के छोकरे-छोकरियों को अभी पसंद-नापसंद करने की तमीज ही क्या है ? पिता व परिवार को जीवन भर का अनुभव होता है। वे जो भी करेंगे, भला ही करेंगे।

बस इसी मानसिकता के कारण किसी ने भी इस दिशा में स्वयं सुनन्दा की राय जानने की कुछ भी पहल नहीं की। आवश्यकता ही नहीं समझी। सब कुछ सुनन्दा के पिता पर निर्भर रहा और उसकी शादी अमित के साथ कर दी गई।

सुनन्दा का बचपन तो जैसा बीतना था, बीत ही गया। अब यौवन की जीवन यात्रा भी उसी तरह के अनिष्ट संयोगों में ही प्रारंभ हुई। बचपन से ही कल्पना लोक में विचरने वाली सुनन्दा की कल्पनाओं पर, उसकी आशालताओं पर जब तुषारापात हुआ तो वह अर्द्धविक्षिप्त-सी हो गई। उसे अपने चारों ओर अनिष्ट... अनिष्ट ... अनिष्ट... के ही दृश्य दिखाई देने लगे, अनिष्ट... अनिष्ट... अनिष्ट... के ही स्वर सुनाई देने लगे।

उसके मुँह से एक ही बात निकलती - "अब मैं क्या करूँ ? कहाँ जाऊँ ? कैसे कटेगी मेरी यह पहाड़-सी जिंदगी इनके साथ ? इन्हें आये दिन पीना है, पीकर पागलों जैसा विवेकहीन होना है, विवेकहीन होकर हिंसक और आक्रामक होना है, कामोत्तेजित होना है और फिर न जाने क्या-क्या करना है ?

इससे इनकी सेहत तो खराब होनी ही है, मानसिक [illegible] भी [illegible] रख पायेंगे ? कुछ कहा नहीं जा सकता। ऐसी स्थिति में न इनकी [illegible] विश्वास किया जा सकता है, न व्यवहार का [illegible] कर बैठे ? शराबी की समाज में इज्जत ही क्या [illegible] है ? शराब के नशे में व्यक्ति विवेकशून्य तो [illegible] भी बलवती हो जातीं हैं, फिर न स्वस्त्री-[illegible] की परवाह। ...

हे भगवान ! यह अच्छा नहीं हु[illegible] दिन भी नहीं गुजार सकती इनके [illegible] उपाय ही नहीं सूझता।"

मन के एक कोने से आवा[illegible] के दूसरे कोने से प्रश्न उठा - [illegible] किया - तलाक की कभी [illegible]

है ? उससे तो मौत ही अच्छी है। तलाकशुदा नारियों को देख कामी कुत्तों की लार जो टपकती है ! वे उसे नोचने-चींथने को फिरते हैं। इसकी भी कल्पना की है कभी ? तलाकशुदा यौवना की मांसल देह को देख जो गुंडे चारों ओर से गिद्धों की तरह मँडराते हैं, उनकी गिद्ध दृष्टि से बचना कितना कठिन है, यह भी सोचा कभी ? अरे ! नारी दैहिक व मानसिक दोनों दृष्टियों से कितनी कमजोर है, इसकी भी कल्पना कर थोड़ी ! थोड़ा धैर्य और विवेक से काम कर।

सुनन्दा सोचती है - अब तो मरना ही एक रास्ता है, पर बात मुझ तक ही सीमित हो तो और बात थी, पर अब तो इनकी संतान भी मेरे पेट में पल रही है। ऐसी स्थिति में न मर ही सकती हूँ और न जी ही सकती हूँ।

हे प्रभो ! यदि मरती हूँ तो आत्महत्या के साथ एक संज्ञी पंचेन्द्रिय मनुष्य की हत्या का महापाप माथे पर लेकर मरना पड़ेगा, जो साक्षात् नरक गति का हेतु है और यदि जीवित रहती हूँ तो इन परिस्थितियों में जीऊँगी कैसे ?

लोग कहते हैं - घबड़ा मत ! 'आशा पर आसमान टिका है।' उनकी यह बात सच हो सकती है; पर इसी आशा पर तो अब तक जीवित थी, अन्यथा मैं तो पीहर में ही मर गई होती।

सोचा था - शादी होगी, ससुराल चली जाऊँगी, वहाँ स्वर्गमय वातावरण मिलेगा तो यह सब भूल जाऊँगी; पर वे सब सपने धूल में मिल गये। एक नया निराशा का पहाड़-सा आगे आ गया, जिससे जीवन यात्रा का सारा रास्ता रुक गया। अब किसकी आशा करूँ ? यदि संतान भी इन जैसी ही निकली तो ? आखिर संतान भी तो इन्हीं की है?

हाय ! मेरे तो तीनों पन ही बिगड़ गये। मैं तो बर्बाद हो गई ! हाय ! हाय !! हाय !!! प्रभो ! नारी जीवन की यह कैसी विडम्बना है ?

इस तरह बड़बड़ाते वह अचेत-सी हो गई, सो गई। बीच-बीच में कुछ सचेत होती तो फिर वही बड़बड़ाहट शुरू हो जाती। •

१०

सुनन्दा की छोटी बहिन सुनयना सचमुच सुनयना थी। मृगी के नयनों की भाँति बड़े-बड़े काले-कजरारे नयन, शुक के समान नुकीली नाक, जवाकुसुम जैसे रक्तवर्ण अधर-ओष्ठ, मोतियों-सी श्वेत दन्तपंक्ति, इकहरी कंचनवर्णी काया, नितम्बों तक लटकती काली-घुंघराली केशराशि, चमकता-दमकता मुख-मंडल, जिसे देख शशि भी शरमा जाये।

जहाँ एक ओर भोली-भाली सुनयना का बाह्य व्यक्तित्व इतना मनमोहक था, वहीं दूसरी ओर वह बेचारी मानसिक रूप से बचपन से ही दु:खी थी।

यह कैसा विचित्र संयोग है पुण्य-पाप का ? **यह रूप-लावण्य सचमुच कोई गर्व करने जैसी चीज नहीं है। इतना और ऐसा पुण्य तो पशु-पक्षी भी कमा लेते हैं, फुलवारियों के फूल भी कमा लेते हैं, वे भी देखने में बहुत सुंदर लगते हैं; पर कितने सुखी हैं वे ?**

बेचारी सुनयना के बाल्यकाल से ही ऐसे पाप का उदय था कि वह बचपन में भी बात-बात में रो देती थी और घंटों रोया करती। रोने से उसकी आँखें लाल-लाल हो जातीं, गला रुंध जाता, मुख-मंडल श्रीविहीन हो जाता। आँसू बहाते-बहाते ही वह मूर्च्छित-सी हो जाती। जागती तो फिर वही रोना-धोना प्रारंभ। मानो वह स्वप्न में भी रो ही रही हो, अन्यथा जागने पर वही रोने की रटन कैसी ?

माँ से उसका इस तरह रोना देखा नहीं जाता था। बेटी के दु:ख से वह भी भारी दु:खी हो जाती; पर दिनभर वह उसे कैसे मनाये ? क्या करे ? उसे भी घरेलू कामों से समय नहीं मिल पाता। पिता को पहले तो अपने काम-धंधों से ही फुरसत नहीं, फिर पियक्कड़ और स्वभाव से ही लापरवाह भी। वह क्या समझें संतान के प्रति अपने उत्तरदायित्व को, कर्त्तव्य को ?

माँ कभी-कभी झुंझलाकर कहती - "शायद इसके भाग्य में तो जीवनभर रोना-धोना ही लिखा है। निगोड़ी कितनी सुंदर लगती है ? कैसी बड़ी-बड़ी आँखें हैं, परंतु लगता है रो-रोकर यह अपनी आँखें और सेहत दोनों खराब कर लेगी।"

सुनयना का पिता अपनी पत्नी को परेशानी में देख कभी-कभार दिलासा देता हुआ कहता - "बच्चे हैं, कभी रोते हैं तो कभी हँसते हैं, खेलते हैं। बच्चों का तो स्वभाव ही ऐसा होता है। इनकी अधिक परवाह नहीं करनी चाहिये।"

जब बात सिर से ऊपर गुजरने लगती, सुनयना की माँ से नहीं रहा जाता, तो वह उसे मनाती, कारण पूछती ।

तव रोते-रोते तुतलाती भाषा में सुनयना कहती - "किसी ने मेरे गुड्डे की आँखें फोड़ दीं हैं, टांगें तोड़ दीं हैं, उसके पेट में चाकू भौंक दिया है, उसे तोड़-मरोड़कर फेंक दिया है। मैं रोऊँ नहीं तो क्या करूँ ... ? सब तहस-नहस कर दिया। मेरा तो सारा खेल ही खत्म कर दिया किसी ने।"

भले ही बालक-बालिकायें अपने मनोगत भावों को भाषा न दे पायें, वाणी से बता न सकें, पर अनुभव तो उन्हें भी होता ही है। शास्त्रीय शब्दों में कहें तो सुनयना को उस समय बचपन में भी इष्टवियोग आर्तध्यान होता था। वह अपने प्रिय गुड्डे के टूटने-फूटने से उसके वियोग में बिलख-बिलख कर रोया करती थी, जिसमें उसने अज्ञान भाव से इष्ट कल्पना कर ली थी, उसका वियोग उसे असह्य था। इसकारण उसका रोना-धोना बंद ही नहीं होता था।

उस समय उस नादान बालिका को यह पता नहीं था कि **मेरा यह रोना-धोना और दुःखी होना आर्तध्यान है, जो तिर्यंचगति के बंध का कारण है।** उस नन्हीं-सी बच्ची की क्या बात कहें ? यह तो अपने को समझदार समझने वाले हमें-तुम्हें आज भी पता नहीं है कि हम अनजाने में कैसे-कैसे पाप भाव कर रहे हैं, करते रहते हैं।

ध्यान रहे, किसी को पता हो या न हो, दूसरों को भी भले पता चले या न चले; पर कर्मबन्धन से कोई नहीं बच सकता। भले ही कोई बच्चा हो या

वूढ़ा, कर्म एवं कार्माणवर्गणायें किसी को नहीं छोड़ती। कर्म का बन्धन तो सबको अपने-अपने भावों के अनुसार होता ही है। कर्मों का और रागादि भावों का ऐसा ही सहज सम्वन्ध है।

सुनयना को रोता-विलखता देख उसकी माँ प्रायः कहा करती -

"बस इतनी-सी वात पर रो-रोकर घर भर दिया है मरी ने! ऐसी रो रही थी मानो इसकी माँ ही मर गई हो। अरे ! गुड्डा टूट गया, गुव्वारे फूट गये तो क्या हो गया ? खिलौने ही तो हैं, इसमें रोने-धोने की क्या वात थी ? दूसरा गुड्डा ला देंगे, उससे खेल लेना।"



माँ की बात सुनकर सुनयना आँसू पोंछते हुए चिल्ला पड़ती - "नहीं दूसरा नहीं, मुझे तो वही चाहिये वही; उस जैसा भी दूसरा नहीं चाहिये। मैंने तो उसी से शादी रचाई थी, तुम्हारी नजरों में वह महज गुड्डा था, पर मेरा तो वही सब-कुछ था। एकबार तुम्हीं ने तो कहा था पड़ौसिन से कि हमारे यहाँ लड़कियों की बार-बार शादी नहीं होती, यदि किसी का दूल्हा मर जाता है तो फिर उसे अकेले ही जीवन बिताना पड़ता है।" कहते-कहते सुनयना रो पड़ती।

सुनयना की भोली-भाली बातें सुनकर और उसे रोता देख न जाने माँ की भी आँखें भर आतीं, फिर बनावटी हँसी हँसते हुए वह कहती - "बेटी यह तो गुड्डे-गुड्डियों का खेल है, यह सचगुच की ही है। ऐसे खेल तो तुम्हारी तरह हम भी खेला करते थे।"

माँ की बात सुनकर सुनयना बाहर से तो चुप हो जाती; पर मन ही मन वह फिर भी रोती ही रहती; क्योंकि उसे तब भी अपना सर्वस्व लुटा-लुटा सा लगता था। उस समय वह उम्र से भले छोटी थी, पर आत्मा तो अजन्मा है न ? इसकारण पूर्वभवों के संस्कार भी जन्म-जन्म के साथ आते हैं तथा किसी न किसी रूप में भविष्य से भी वर्त्तमान जुड़ा ही रहता है। उन्हीं पूर्व संस्कारों वश सुनयना बचपन में भी इष्टवियोग जनित मानसिक पीड़ा को मन ही मन सहती रही; क्योंकि उसकी भोली-भाली बातों की परिवार के लोग परवाह ही नहीं करते थे। उल्टी उसी की हँसी उड़ाया करते थे।

वे क्या जानें मानवीय मनोविज्ञान एवं बालमनोविज्ञान को ? दूसरों की हँसी उड़ाना जितना आसान है, उसका सही समाधान खोज कर सन्तुष्ट कर पाना उतना ही अधिक कठिन है।

यदि सुनयना का वह खेल सचमुच खेल था, तो हम सब भी तो दुनिया में वैसा ही खेल ही खेल रहे हैं; फिर हमें भी तो इन अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितियों को खेल ही समझना चाहिए। हम भी बच्चों की तरह ही क्यों रोते-बिलखते हैं; चीखते-चिल्लाते हैं ? अथवा हर्षविभोर होते हैं, खुशियाँ मनाते हैं, हर्ष-विषाद करते हैं ? और ऐसा करके क्यों पुण्य-पाप बाँधते रहते हैं ?

तत्त्वज्ञान से अनजान भोली-भाली ममता की मूर्ति माँ को क्या पता कि - उसकी बेटी सुनयना बचपन में दस-बीस रुपयों के खिलौने के कारण नहीं; बल्कि अपने सर्वस्व लुटने के कारण रोया करती थी। अब भी ज्यों-ज्यों उस गुड्डे से जुड़ी स्मृतियाँ उसके मानस पटल पर उभर कर आतीं, त्यों-त्यों उसके अन्तर्मन में अधिक राग उमड़ता और वह फूट-फूट कर रो पड़ती; क्योंकि उससे इष्टवियोग जनित असह्य मानसिक पीड़ा सही नहीं जाती।

यह एक मानवीय कमजोरी है, मानसिक रोग है; जिसका तत्त्वज्ञान की औषधि के सिवाय अन्य कोई उपचार ही नहीं है। तत्त्वज्ञान शून्य बेचारी बालिका को बचपन में क्या पता था कि - **लोक की वस्तु-व्यवस्था क्या है और जीवों को कैसी परिणति के क्या-क्या परिणाम भोगने पड़ते हैं ?** इन संसारी अज्ञानी मोही प्राणियों को संयोगों में आई लौकिक वस्तु के टूटने-

फूटने या खो जाने से उस वस्तु के अभाव में रोने-गाने से क्या-क्या हानियाँ होतीं हैं, कैसा-कैसा पापबंध होता है ?

चाहे कोई बालक हो या वृद्ध, ज्ञानी हो या अज्ञानी, नारी हो या पुरुष; कर्म या कार्माणवर्गणाएँ तो सबको योग और कषायों के अनुसार एक जैसी ही आस्रवित होतीं हैं और बंधतीं हैं। किसी की उम्र का कोई लिहाज नहीं करतीं। और न समझदार-गैरसमझदार में ही फर्क करतीं हैं। कर्मवर्गणाएँ तो सबको मिथ्यात्व एवं कषाय भावों के अनुसार बंधती ही हैं। कषायों की हीनाधिकता के अनुसार समय पर सबको अपना फल भी देतीं ही हैं। इसीलिए तो कहते हैं कि बाल्यकाल से ही यह जानकारी होना जरूरी है कि **कैसे-कैसे भावों से किसप्रकार का कर्मबंध होता है और उनका क्या फल होता है ?**

जैसे धनार्जन के काम में घाटे-मुनाफे का पता लगाने के लिये लेन-देन, आवक-जावक, आय-व्यय का हिसाब-किताब, लेखा-जोखा जरूरी होता है; उसीप्रकार धर्म-अधर्म का सही-सही लेखा-जोखा भी जरूरी है। अन्यथा जैसे धंधे में लापरवाही से दिवाला निकल जाता है; उसीप्रकार धर्म के क्षेत्र में धर्म-अधर्म की पहचान न होने से अधर्म को ही धर्म समझकर करते रहने से अन्ततोगत्वा निगोद में जाना पड़ता है।

धर्मेश इस बात से भली-भाँति परिचित है। अतः उसका सोच यह है कि - अमित की पत्नी सुनन्दा और उसकी छोटी बहिन सुनयना, जो दिन-रात आर्तध्यान में डूबीं रहतीं हैं, उन्हें सत्य का ज्ञान कराना अत्यन्त आवश्यक है। अभी उन्हें क्या पता कि - पहले कभी ऐसी ही खोटी परिणति रही होगी, जिसका फल अभी भोग रहे हैं और अब भी यदि इसी स्थिति में यह दुर्लभ मनुष्य भव बीत गया तो फिर अनन्त काल तक इसी भवसागर में गोते खाने पड़ेंगे। अतः उन्हें एकबार तो सन्मार्ग दिखाना ही होगा। फिर भी यदि उनकी समझ भी अमित जैसी ही रही तो उनकी वे जानें। मैं अपना काम तो करूँगा ही। इस संकल्प के साथ धर्मेश उन्हें सन्मार्ग-दर्शन कराने की योजना बनाने में जुट गया।

११

जहाँ एक ओर सुनयना का सुरांगना के समान प्रकृति प्रदत्त रूप-लावण्य, वहीं दूसरी ओर ऐसी दयनीय, दुःखद प्रतिकूल पारिवारिक परिस्थितियाँ; जिन्हें देख दानवों के दुष्ट हृदय भी द्रवित हो जायें।

कैसा विचित्र खेल है इन कर्मों का और तज्जन्य औदयिक भावों का ? परंतु यह कोई नई बात नहीं है। पुराणपुरुष श्रीपाल इसके साक्षी हैं। जहाँ एक ओर वे कोटिभट, तद्भव मोक्षगामी थे; वहीं दूसरी ओर उनका कुष्ठरोग से पीड़ित होना और राज-पाट से निष्कासित हो निर्जन जंगलों में भटकना और दर-दर की ठोकरें खाना कर्मों की विचित्रता को सिद्ध करता है।

सर्वगुण-सम्पन्न होते हुये भी सुनयना का बाल्यकाल तो रोते-रोते बीता ही था, यौवन भी आशा-निराशा रूप से देह के झूले में झूलते रहने से व्याकुलता में ही बीता। यह भी कर्मों की ही विचित्रता है।

पीढ़ियों से धनाढ्य होने पर भी दुर्व्यसनों में लिप्त हो जाने से अभावों के गहरे गर्त में पड़ा पिता; सब ओर से पीड़ादायक अनिष्ट संयोगों से घिरी बड़ी बहिन सुनन्दा; गाय के समान अत्यन्त भोली-भाली, दीन-हीन, ममता की मूर्ति माँ; जिसका कोई भविष्य नहीं, ऐसा नाबालिग छोटा भाई - ऐसी प्रतिकूल परिस्थितियों में सुनयना का न कोई संरक्षक, न कोई सहारा।

'अबला जीवन हाय तुम्हारी यही कहानी' की उक्ति को याद कर-करके आहें भरती सुनयना सदैव सशंक भयभीत मृगी की भाँति अपना आश्रय खोजती यत्र-तत्र भटकती हुई अपने दुर्दिन बिता रही थी।

जब पाप का उदय आता है तब परिस्थिति बदलते देर नहीं लगती। जो अपने गौरव के हेतु होते हैं, सुख के निमित्त होते हैं, वे ही गले के फंदे बन जाते हैं।

सुनयना का शारीरिक सौन्दर्य, जिसपर उसके माता-पिता एवं कुटुम्ब-परिवार को गर्व था, आज वही सौन्दर्य उसके लिये धर्मसंकट बन गया है।

दुर्व्यसनों के कारण पिता की सामाजिक प्रतिष्ठा धूलि-धूसरित एवं प्रभाव क्षीण हो जाने से असामाजिक तत्त्वों की पड़ती काली छाया और गिद्धदृष्टि की शिकार हो जाने की आशंका से सुनयना सशंक और भयातुर भी रहने लगी थी। अपने शील की सुरक्षा में सतत् सावधान सुनयना अपने सौभाग्य की प्रतीक्षा कर रही थी।

वह सोचती - लड़कों ने तो जिस कुल में जन्म ले लिया, उन्हें पूरा जीवन वहीं बिताना पड़ता है; पर लड़कियाँ इस मामले में सौभाग्यशालिनी होती हैं। उन्हें जीवन में दो बार भाग्योदय का अवसर प्राप्त होता है। एक बार तो तब, जब वह किसी बड़े घर में जन्म लेकर बड़े बाप की बेटी बनती है। कदाचित् दुर्भाग्यवश किसी साधारण घर में जन्म लेना पड़ गया तो पुनः दूसरा भाग्योदय का अवसर उसे तब मिलता है, जब उसकी शादी होती है, वह किसी बड़े घर की बहू बनती है।

मेरा पहला अवसर तो यों ही चला गया। बड़े घर में जन्म लेने के बावजूद भी मुझे उसका लाभ नहीं मिल पाया। मेरे जन्म लेने के साथ ही मेरे पिताश्री कुसंगति में पड़ गये। धीरे-धीरे एक-एक दुर्व्यसन से घिरते चले गये और अपने ही लक्षणों से बीस वर्ष के अन्दर ही करोड़पति से रोड़पति बन गये, स्वर्ग जैसे सदन के निवासी सड़क पर आकर खड़े हो गये।

अब दूसरा अवसर शेष है। पर यह आशा भी दुराशा मात्र लगती है। इसमें भी अधिकांश तो निराशा ही हाथ में आने वाली है; क्योंकि दहेज दानव इस संभावना पर भी संभवतः पानी फेर देगा।

सुनयना का यह सोचना गलत भी नहीं है; क्योंकि भले ही वह सर्वगुण सम्पन्न है, पर उसके गुणों से न तो श्रीमन्तों का पेट भरता है और न पेटी ही। दूसरे, लक्ष्मीवालों की प्रतिष्ठा का प्रश्न भी तो आड़े आ जाता है।

सैंकड़ों रिश्ते आये, पर इन्हीं सब कारणों से अब तक कहीं भी पार नहीं पड़ी, बात नहीं बनी। सभी का यही कहना था - लड़की सुंदर है, सर्वगुण सम्पन्न भी है, यह बात तो सर्वोत्तम है; परन्तु ... ।

बार-बार योग्य-अयोग्य सभी तरह के व्यक्तियों के सामने अपना प्रदर्शन करते-करते और बेतुके, बनावटी, ऊँटपटांग प्रश्नों के उत्तर देते-देते तथा अपमान के घूंट पीते-पीते बेचारी सुनयना इतनी ऊब गई थी कि उसे अब ऐसे दु:खद जीने से मरना सुखद लगने लगा था। पर पता नहीं, क्या सोच-सोच कर वह अपनी जीवित लाश को ढो रही थी।

उसने एक बार प्रवचन में सुना था कि - आत्मघाती महापापी -आत्मघात करनेवाला महापापी होता है। आत्मघात करनेवाले की सुगति नहीं होती, कुगति ही होती है; इसीकारण उसने निश्चय कर लिया कि जो पाप कर्म मैंने कमाये हैं, बाँधें हैं, उन्हें भोगना तो पड़ेगा ही; फिर इसी जन्म में ही क्यों न भोग लिये जायें ? बेमौत मरने से ये कर्म मेरा पीछा छोड़ने वाले तो हैं नहीं। अत: भला-बुरा जो भी हो रहा है, उसे मात्र जानते-देखते चलो। उसमें तन्मय मत होओ - यही सब तो सुना था उस दिन प्रवचन में।

कहते हैं - 'घूरे के भी दिन फिरते हैं' तथा 'आशा से आसमान टिका है।' 'खुरपी को भी टेढ़ा बेंट तो मिलता ही है।' इसी आशावादी दृष्टिकोण और आत्महत्या के पाप के भय ने सुनयना को आत्मघात करने से बचा लिया।

जिसप्रकार पाँचों उंगलियाँ एक जैसी नहीं होतीं; उसी प्रकार सभी व्यक्ति भी एक जैसे नहीं होते। एक युवक ऐसा भी था, जो पढ़ा-लिखा, प्रतिभाशाली, देखने-दीखने में आकर्षक व्यक्तित्व का धनी और अमानवीय दोषों से कोसों दूर था। धन की चाह और जरूरत किसे नहीं होती ? पर किसी की मजबूरी का अनुचित लाभ उठाना उसकी वृत्ति में नहीं था। प्रथम परिचय में ही वह सुनयना के बाह्य व्यक्तित्व से आकर्षित हो गया। धीरे-धीरे परिचय प्रीति में बदल गया। वह सुनयना की सरलता, सज्जनता तथा प्रतिकूल परिस्थितियों में सहनशीलता तथा चित्त की प्रसन्नता जैसे गुणों से अधिक प्रभावित था। इन्हीं सब कारणों से वह उसके मन में बस गई थी।

यदि वह चाहता तो किसी भी बड़े घर से उसे भी दो-चार लाख मिलना कोई बड़ी बात नहीं थी; पर यह उसके खून में ही नहीं था। सुनयना भी इसे देखते ही, अनजाने में ही उसकी ओर सहज आकर्षित होती चली गई, मानो उसके साथ उसका जन्म-जन्म का रिश्ता हो।

नवयुवक के पिता ने भी अन्तर्जातीय संबंध होते हुए भी बेटे सुदर्शन की भावनाओं को पहचान कर कुटुम्ब परिवार की असहमति और अन्तर्जातीय संबंध के विरोध की भी परवाह न करके सुनयना को अपने घर की बहू बना लिया।

सुदर्शन का वाह्य व्यक्तित्व तो सुदर्शन था ही, वह सदाचारी और धन सम्पन्न भी था। सुदर्शन जैसे पति को पाकर सुनयना मन ही मन प्रसन्न हो रही थी; पर अचानक उसके मानस पटल पर बचपन की वह स्मृति रेखा उभर आई, जब खेल-खेल में उसका गुड्डा क्षतिग्रस्त कर दिया गया था। इस कारण उसका मन कुछ-कुछ खिन्न हो गया। तत्काल उसने अपने मन को समझाया - वह तो गुड्डे-गुड्डियों का खेल था, खेलों में तो ऐसा होता ही है, इसमें दुःखी होने की क्या बात है। यह सोचकर वह संभल गई। यद्यपि उस समय वह खूब रोई थी; क्योंकि तब लड़कपन जो था। उस समय वह खेल को ही वास्तविक की शादी समझती थी, इस कारण उस समय उसका रोना स्वाभाविक ही था। दूल्हा दुर्घटनाग्रस्त हो जाये और दुल्हन की आँख में आँसू भी न आवें - ऐसा कैसे हो सकता था ?

सुदर्शन तो स्वभाव से ही धार्मिक प्रवृत्ति का था, सुनयना भी सरलस्वभावी थी, भारतीय नारी के सभी गुण उसमें थे। पति की परछाई बनकर रहना ही वह अपना धर्म समझती थी।

सुदर्शन ने सलाह के रूप में सुनयना से कहा - "गृहस्थ जीवन में प्रवेश करने के पूर्व सर्वप्रथम किसी ऐसे पावन तीर्थ की वंदनार्थ जाने का कार्यक्रम क्यों न बनाया जाये, जिसमें 'एक पंथ दो काज' हो जायें ? तीर्थवंदन जाये और साथ में घूमना-फिरना भी।"

सुनयना ने सुदर्शन की बात का समर्थन करते हुए कहा - " मैं आपकी इस सलाह से पूर्ण सहमत हूँ। आपका विचार अति उत्तम है। 'हनीमून' के नाम पर कोरे आमोद-प्रमोद और सैर-सपाटे से क्या लाभ ?"

सुदर्शन ने कहा - "मेरे मन में मात्र यही संकोच था कि तुम्हारी सखी-सहेलियाँ कहीं यह कहकर तुम्हारा मजाक न बनायें कि इस युग में यह सतयुगी अवतार कहाँ से आ टपका जो हनीमून की जगह तीर्थयात्रा पर निकल पड़ा है। तीर्थयात्रायें कोई अभी करने के काम हैं ? ये तो बुढापे की बातें हैं।"

सुनयना ने सुदर्शन के संकोच को दूर करते हुए कहा - "ऐसी कोई बात नहीं है, फिर कहनेवालों का क्या ? जो जिसके मन में आये कहता रहे। हम किसी के कहने की परवाह क्यों करें ? हम कोई गलत काम करने को तो जा नहीं रहे हैं जो ऐसा संकोच करें। धर्म करने की कोई निश्चित उम्र नहीं होती। धर्म तो जीवन का अभिन्न अंग होना चाहिए। क्या पता कब/ क्या हो जाये ? अंत में धर्म ही तो हमारा सच्चा साथी है।"

सुनयना की ऐसी समझदारी की बात सुनकर सुदर्शन मन ही मन बहुत खुश हुआ। उसे ऐसा लगा कि सुनयना सचमुच सच्ची भारतीय धर्मपत्नी है, तभी तो धर्म कार्यों में साथ दे रही है।

सुनयना ने कहा - "आप चिन्ता न करें, कोई कुछ नहीं कहेगा। कहेगा भी तो कह देंगे- हमारा तो यही हनीमून है, दाम्पत्य जीवन का शुभारंभ भी शुभकार्य से ही होना चाहिए।"

इसके लिए उन्होंने दक्षिण भारत की तीर्थयात्रा पर जाने का निश्चय कर लिया। एक सप्ताह की तीर्थयात्रा सानन्द सम्पन्न हुई। वहाँ से लौटते समय धर्मस्थल से नीची-ऊँची घाटियों का आनन्द लेते हुए चारों ओर हरे-भरे दृश्यों को देखते हुए भगवान बाहुबली के गीत गुनगुनाते कार में बैठे मस्ती से आ रहे थे कि अचानक कार का ब्रेक फेल हो गया। ड्राइवर ने कार संभालने की काफी कोशिश की, पर कार काबू के बाहर हो गई, आउट ऑफ कन्ट्रोल हो गई। उनकी समझ में आ गया कि अब तो भगवान का नाम लेने के सिवाय दूसरा कोई उपाय ही नहीं है।

सुदर्शन को अचानक सुनयना का वह वाक्य स्मरण हो आया, जो अभी-अभी आठ दिन पहले ही उसने कहा था कि - **धर्म करने की उम्र कोई निश्चित नहीं होती, धर्म तो हमारे जीवन का अभिन्न अंग होना चाहिए। क्या पता कब/क्या हो जाये ?** बस तुरंत सावधान होकर ध्यानमुद्रा में दोनों मन ही मन णमोकार मंत्र पढ़ने लगे।

देखते ही देखते कार वृक्षों से टकराती वल खाती एक गहरे गर्त में गिरने ही वाली थी कि उसका एक फाटक खुल गया और सुनयना वृक्ष की डाल में अटकने से बाल-बाल बच गई और गाड़ी गर्त में गिरने से सुदर्शन के उसी समय प्राण-पखेरू उड़ गये।



होनहार की बात है कि एक ही सीट पर एक साथ बैठे युगल दम्पत्ति सुनयना और सुदर्शन में सुनयना साधारण-सी चोट खाकर बच गई और सुदर्शन का गिरना-मरना एक ही साथ हो गया। यह भी कर्मों की कैसी विचित्रता है ? जिसकी आयु शेष है, उसे कोई नहीं मार सकता तथा जिसकी आयु के निषेक समाप्त हो गये हैं, उसे कोई बचा नहीं सकता।

सुनयना के दुर्भाग्य का अभी अन्त नहीं आया था। तभी तो इतना सुन्दर संवंध मिलने पर भी उसके भाग्य में पति का सुख नहीं था। शादी हुए चंद दिन ही हुए थे कि उसके प्राणों से प्यारे पति का इस दुःखद दुर्घटना में देहावसान हो गया और सुनयना जीवन भर के लिए इष्टवियोग जनित आर्तध्यान के कुचक्र में फँस गई।

१२

नारी के जीवन में सबसे बड़ा दु:ख उसके वैधव्य का होता है। इससे अधिक दु:खद स्थिति नारी के जीवन में अन्य कोई नहीं होती। दुर्दैव से यदि यह दु:खद परिस्थिति विवाह के तुरन्त बाद ही बन जाये, तब तो मानो उस पर विपत्तियों के पहाड़ ही टूट पड़ते हैं। पति के अभाव में सारा जीवन अंधकारमय तो बन ही जाता है, साथ ही और भी अनेक विपत्तियों की घनघोर घटायें घेर लेतीं हैं। पति के परिवार और पड़ौसियों का दुर्व्यवहार तथा पीहर की उपेक्षा उसे जीते जी नरक में धकेल देते हैं, उसका जीना ही दूभर कर देते हैं।

महिलाओं में इतनी अक्ल ही कहाँ होती है, इतनी दूरदर्शिता भी कहाँ होती है? ऐसा कहकर सम्पूर्ण नारी जाति को अपमानित तो नहीं किया जाना चाहिये; पर अधिकांश महिलाओं की ऐसी मनोवैज्ञानिक स्थिति है कि उन्हें दूसरी महिलाओं का दु:ख दु:ख-सा ही नहीं लगता। दूसरों पर क्या बीत रही है, इसका अहसास ही नहीं होता। इस मनोवृत्ति में आमूलचूल परिवर्तन लाने की महती आवश्यकता है। अन्यथा नारी जाति इसीतरह अपमानित और प्रताड़ित होती रहेगी। जैसी कि दुर्घटना में सुदर्शन के दिवगंत हो जाने से सुनयना की दुर्गति हुई।

सुनयना के सुसराल पक्ष से सहानुभूति और सहारा मिलने के बजाय सब ओर से हृदय-विदारक वाक्यावली ही सुनाई देने लगी। तानों के वचन-वाण उसके हृदय को बेधते ही रहते।

सासूजी कहती - "डायन है, डायन ! दुष्टा ने देहरी पर पाँव रखते ही खा लिया मेरे लाल को।"

हाँ में हाँ मिलाते पत्नी-भक्त श्वसुर साहब कहते - "कुलक्षणी है, कुलक्षणी। ज्योतिषीजी ने भी क्या देखकर संजोग बैठा दिया ? देखो न ! घर में पाँव पड़ते ही बेटा तो जीवन से हाथ धो ही बैठा, शेयर मार्केट की भी क्या हालत हो गई ? लाखों की चोट लग गई शेयरों के धंधे में।"

अंधविश्वासी जेठजी अलापते – "यह तो जो हुआ सो हुआ ही, इसके पदार्पण से मेरा तो हाल ही बेहाल हो गया। हत्या के अपराध में चल रहे फौजदारी मुकद्मे में मैं सुप्रीम कोर्ट से भी हार गया हूँ। अब आजीवन कारावास तो पक्का ही समझो। फाँसी की सजा भी हो सकती है।"

ननद कहती – "जब से इस कलमुँही का मुँह देखा, तभी से मेरा घरवाला दिन-दूनी रात-चौगुनी पीने लगा है। और पहले तो मुझसे थोड़ा-बहुत प्रेमालाप कर भी लेता था; पर अब तो मेरी ओर आँक कर भी नहीं देखता। जब देखो तब इसी के गुण गाया करता है। निकालो डायन को इस घर से। पता नहीं और किस-किस को वशीभूत कर लेगी यह ?

पन्द्रह दिन में सुदर्शन भैया पर तो इसने ऐसा जादू कर दिया था, उनका ऐसा मन मोह लिया था कि कुछ पूछो मत। मुहल्ले वाले भी इसकी तारीफ करते नहीं थकते। अड़ौसी-पड़ौसी स्वर्गीय सुदर्शन भैया को याद करने के बजाय, उनके वियोग पर दुःख प्रगट करने के बजाय, इसके प्रति ही सहानुभूति दिखा-दिखा कर इसके ही दुःख को रोया करते हैं।

ऐसी कौनसी जादुई विद्या है इसके पास ? कौनसा मोहिनी मंत्र जानती है यह, जो सभी लोग इसकी बातों से, व्यवहार से प्रभावित हो जाते हैं।"

इस तरह सुनयना के सुसराल पक्ष के दुर्व्यवहार ने उसके वैधव्य के गहरे घावों पर नमक छिड़कने का ही काम किया। न केवल सताया ही, अमंगल के भय से घर से भी निकाल दिया। सब तरह से बे-सहारा सुनयना बे-मौत मरने के बजाय माँ की शरण में चली गई।

पुरातन पन्थी नारियाँ अपने अन्धविश्वास के कारण अपनी ही नारी जाति की कितनी कैसी वैरिन बन जातीं हैं – कोई सोच भी नहीं सकता। और जोरू के गुलाम पुरुष भी उनकी हाँ में हाँ मिलाकर उनका साथ में दो कदम आगे हो जाते हैं।

मांगलिक माने जाने वाले विवाह आदि के नेग-दस्तूरों में महिलाएँ विधवा नारी की परछाईं से परहेज करने लगतीं हैं। नन्हें-नन्हें बालक-बालिकाओं को भी विधवा के पास नहीं फटकने देतीं।

नारियों की ऐसी दयनीय दुर्दशा देख, उसे उपेक्षित और असहाय देख निम्न स्तर का पुरुष वर्ग भी उसकी मजबूरी का लाभ उठाने के लिए अपने हथकंडे चलाने लगता है। कामी पुरुषों की कुदृष्टि उन्हें शान्ति से जीने नहीं देती।

दुर्दैव की मारी ऐसी नारियाँ शिकारियों के शिकंजे से छूटीं भयभीत मृगी की भाँति माँ की ममता को याद करके यदि पीहर की शरण में पहुँच जायें तो पीहर के लोग भी उन्हें अपने माथे का बोझ समझकर जल्दी से जल्दी अपने बोझ को कम करने के लिए, अपनी बला टालने के लिये, उनका पुनर्विवाह करने की सोचने लगते हैं।

यद्यपि माँ में तो बेटियों के प्रति वैसे भी ममता होती है, यदि बेटी बाल-विधवा हो जाय तब तो कहना ही दुष्कर है। परन्तु वह बेचारी अकेली कर भी क्या सकती है - जब भाई-भाभियाँ और पिता महोदय मिलकर एक मत हो जायें। ऐसी स्थिति में माँ को मौन रखने के सिवाय अन्य उपाय ही क्या है ? परिस्थितियों से समझौता कर माँ द्वारा भी मजबूरी में पुनर्विवाह को मान्यता दे दी जाये तो भी बेचारी विधवा नारी की समस्या समाप्त नहीं होती; क्योंकि विधवा से कौन कुँवारा ब्याह करना चाहेगा ? उसे तो कोई विधुर ही अपना सकता है। कम उम्र के विधुर भी विधवा को सहज स्वीकार नहीं करते; क्योंकि जिन्हें एक से बढ़कर एक कुमारियाँ मिल सकती हैं, भला वह विधवा से शादी क्यों करेगा ? अंधविश्वास के कारण उसे यह भी आशंका बनी रहती है कि 'यदि इसके भाग्य में पति होता तो पहला ही क्यों मरता ? सम्भव है यह पुनः विधवा हो जाय ? इस स्थिति में मैं अपनी जान को जोखिम में क्यों डालूँ?' इस आशंका से भी विधवाओं का योग्य व्यक्ति के साथ पुनर्विवाह होना अत्यन्त कठिन होता है।

इन सब कारणों से वे सब लोग मिलकर उसे किसी अधेड़ या अधबूढ़े विधुर के माथे मढ़कर बिना प्रसव पीड़ा सहे ही उसे छोटी-सी उम्र में ही अनेक बेटे-बेटियों की माँ बना देने पर तुल जाते हैं।

ऐसा दुर्व्यवहार करते समय ऐसे दुष्ट प्रकृति के नर-नारी यह भूल जाते हैं कि - काश ! यह दुर्घटना हमारे ऊपर अथवा हमारी प्राण प्यारी बहन-बेटियों पर ही घट जाये और हमारे साथ भी दूसरों के द्वारा ऐसा ही व्यवहार किया जाने लगे, तब हम पर क्या बीतेगी ? और ऐसा होना कोई असम्भव तो है नहीं। कोई भी व्यक्ति कभी भी दुर्घटना का शिकार हो सकता है।

हो ही जाना चाहिए। बस इसी विकल्प से मैंने इस चर्चा को महत्वपूर्ण व उपयोगी समझकर छेड़ दिया। तुम्हें इतना बुरा लगेगा – ऐसा समझता तो आज न कहकर फिर कभी कह लेता। अस्तु कोई बात नहीं। तुम इन शकुन-अपशकुन के दकियानूसी विचारों को छोड़ो और जो बातें तुम्हें अभी अच्छी लगे, वही कहो। मैं अपने शब्द वापिस लिये लेता हूँ। पर तुम्हें सदैव हिम्मत से काम लेना सीखना चाहिए और हर परिस्थिति का सामना करने के लिये सदैव तैयार रहना चाहिए।"

कोई कटु सत्य सुन सके या न सुन सके, सह सके या न सह सके, पर जो सुख-दु:ख होना होता है, वह तो होकर ही रहता है।

सुनयना कुछ ही समय में उस दुर्घटना का शिकार हो गई, जिसे वह सुहागरात के दिन सुन भी नहीं सकी थी। अब वे सारे दृश्य जो उन दोनों के बीच बात-चीत करते घटे थे, सुनयना की आँखों में उतर आये।

सुनयना दुर्घटना में पति को दिवंगत देख मूर्छित-सी हो गई थी, अवाक् रह गई थी। रोना चाहकर भी रो नहीं पा रही थी। उसके आँसू ढलकने के बजाय अन्दर ही अन्दर सूख गये थे। आँखें फटीं की फटीं रह गईं थीं। जब तक नहीं रो सकी तो नहीं रोई। जब रोना चालू हुआ तो ऐसी रोई कि उसे रोता देख सारा वातावरण शोक-संतप्त हो गया। सभी उपस्थित प्राणी दु:खी हो गये।

सुदर्शन के आकस्मिक निधन से सुनयना का स्वप्निल-संसार उजड़ चुका था। उसके सारे मनोरथ मन के मन में ही रह गये थे। उसकी सारी मनोकल्पनायें सुहागिन बनने के साथ ही बिखर गईं।

नारी का सुहाग सदा के लिये छिन जाना नारी जीवन का सबसे बड़ा अभिशाप है। वह धैर्य धरे भी तो कैसे धरे ? उसे तत्त्वज्ञान का बल तो कुछ होता नहीं, जिसके बल पर बड़ी से बड़ी प्रतिकूलता में भी समतापूर्वक रहा जा सकता है।

उसकी आँखें झरने बन गईं, जिनसे दिन-रात आँसू झरते ही रहते। गीली आँखें कभी सूखती ही नहीं। यह हालत देख समय-समय पर माँ की ममता उमड़ पड़ती। समझाते-समझाते माँ स्वयं भी फूट-फूट कर रो पड़ती।

सुनयना का दुःख किसी से देखा नहीं जाता। आस-पड़ोस की, मुहल्ले की महिलायें उसे समझाने, सहानुभूति दिखाने आतीं; पर उसके विलाप को देखकर स्वयं रो पड़तीं, समझाने का असफल प्रयास करतीं; पर स्वयं के आँसू भी नहीं रोक पातीं।

अभी शादी हुए चन्द महीने भी नहीं वीत पाये थे, हाथों की मेंहदी भी तो नहीं छूटी थी। मेंहदी रंग ला भी नहीं पायी थी कि दुर्दैव ने उसके पहले ही उसके हाथों की मेंहदी और माथे का सिंदूर पोंछ डाला।

माँ के गले से चिपकी सुनयना रोते-रोते इतनी थक जाती कि उसका अंग-अंग शिथिल हो जाता। सिसकियाँ भरते-भरते वह मूर्छित-सी होकर माँ की गोद में ही लुढ़क जाती। यह कोई एक दिन की वात नहीं थी। ऐसे रोते-विलखते उसे महीनों बीत गये।

सुनयना के सास-श्वसुर ने तो यह कहकर छुट्टी पा ली थी कि - "अभागिन ने नागिन वनकर ब्याह होते ही हमारे लाल को डस लिया। हम तो कलमुँही का मुँह भी नहीं देखना चाहते।"

बस, एक मात्र माँ का ही सहारा था। माँ बेचारी पहले से ही चारों ओर से परिस्थितियों से घिरी थी। एक और नया संकट आ पड़ा उसके माथे पर। बड़ी बेटी सुनन्दा का पति शराबी, वेटा अपंग, पति मनमोहन भी जीवन भर दुर्व्यसनों से घिरा रहा है।

यह तो वह या सर्वज्ञ भगवान ही जानते हैं कि - उसने इस स्वार्थी और वासनामयी दुनियाँ में अपने शील को सुरक्षित रखते हुए अपनी संतान को कैसे पाला-पोसा है। यदि उसमें धैर्य न होता और धर्म का सहारा न होता तो वह कभी की अपनी संतान सहित अकाल मौत मरकर परलोक सिधार गई होती।

धीरे-धीरे माँ स्वयं तो सहज हुई ही, सुनयना को भी सहज करने का प्रयत्न किया। **काल की गति विचित्र होती है, वह भी धीमे-धीमे मानव को सहजता की ओर ले जाने में सहयोग करती है। अच्छी-बुरी स्मृतियाँ काल के गाल में सहज समाती जातीं हैं।**

ज्यों-ज्यों समय वीतता गया, त्यों-त्यों सुनयना भी दुर्भाग्य के झटके झेलते हुये सहज होती चली गई। •

१३

धर्मेश ने कहा - "मनमोहन ! तुम अपनी भूल मानो या न मानो, पर सच यह है कि सुनन्दा और सुनयना जैसी सर्वगुण-सम्पन्न बेटियों को और भोली-भाली ममता की मूर्ति उनकी माँ मोहिनी को इस दुःखद और दयनीय स्थिति में पहुँचाने में तथा इकलौते बेटे जीवन्धर को पोलियों से पीड़ित और अनाथ वनाने में सबसे अधिक दोष यदि किसी का है तो तुम्हारा ही है। तुम्हारे कारण ही तुम्हारी पत्नी को तुम्हारे जीते जी एक विधवा जैसा जीवन जीने को मजबूर होना पड़ा और बाप के होते हुये बेटे को अध्ययन के लिए अनाथालय की शरण में जाना पड़ा।

जो व्यक्ति अपनी पत्नी और सन्तान का सही ढंग से भरण-पोषण, देख-रेख और संरक्षण जैसे अनिवार्य कर्त्तव्य का पालन नहीं कर सकता, उसे शादी-ब्याह रचाकर पत्नी और संतान के सुख की कल्पना करने का भी अधिकार नहीं है। अधिकार और कर्त्तव्य दोनों एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। उन्हें अलग नहीं किया जा सकता। कर्त्तव्य भूलते ही अधिकार भी स्वतः ही समाप्त हो जाता है।

तुमने दुर्व्यसनों में पड़कर अपने परिवार को जिस दुःख के सागर में डुबो दिया है, उस दुःख को तुम्हारा यह रोना-धोना, दुःखी होना, पश्चाताप करना, कम नहीं कर सकता।"

धर्मेश की बातें सुनकर मनमोहन भावुक हो उठा, स्वयं को संभाल न सका। वह औरतों की तरह फूट-फूट कर रोने लगा - पश्चाताप के आँसू बहाते हुए वोला -

"ऐसा कौनसा पाप है जो मैंने नहीं किया। पिता की करोड़ों की सम्पत्ति को मैंने दुर्व्यसनों में पड़कर पानी की तरह वहा दिया, यों ही बर्बाद कर दिया

और माता-पिता को मानसिक क्लेश पहुँचा-पहुँचा कर उनका जीना दूभर कर दिया। मेरे कारण ही मेरे पिता हृदयाघात से परलोक सिधारे। माँ की ममता को मैंने कुचला, उसके वैधव्य का कारण मैं बना। पत्नी, पुत्रियों और पुत्र के जीवन के साथ खिलवाड़ मैंने किया। एक बात हो तो कहूँ, क्या-क्या गिनाऊँ ? अनगिनत पाप किये हैं मैंने। सचमुच मैं किसी को मुँह दिखाने लायक नहीं रहा। अत: अब मुझे भी जीने का अधिकार नहीं रहा।''

धर्मेश द्वारा धैर्य बंधाने पर मनमोहन चुप तो हो गया, पर उसके मन के विकल्प नहीं रुके, अन्तर्जल्प चलता ही रहा -

हे भगवान ! मैं क्या करूँ ? कहाँ जाऊँ ? मुझे तो चुल्लू भर पानी में डूबकर मर जाना चाहिए; पर मरकर भी तो मुझे इस अपराध से छुटकारा नहीं मिलेगा, शान्ति नहीं मिलेगी। मेरी प्राणों से प्यारी बेटियों का दु:ख मुझसे देखा नहीं जाता। उनके दु:खों को अनदेखा करने के लिए, भूलने के लिए ज्यों-ज्यों मैं नशे में डूबने की कोशिश करता हूँ, त्यों-त्यों ये दु:ख बढ़ते ही जाते हैं। अब तो नशे में डूबे रहने पर भी चारों ओर ये ही दृश्य दिखाई देते हैं। अत: अब तो मेरे लिए एकमात्र मरण ही शरण दिखाई देता है। मरण के सिवाय अन्य कोई उपाय ही शेष नहीं रहा; क्योंकि अब तो जहर खाने तक को पैसे नहीं रहे। नशे में डूबे रहने के लिए भी तो पैसे चाहिए न ? मदिरा मुफ्त में तो आती नहीं। मदिरा पीने के लिए भी अब मैं पैसे कहाँ से लाऊँ ? घर में तो कुछ बचा नहीं। घर की तो एक-एक वस्तु इस मदिरा देवी की बलिवेदी पर चढ़ा चुका हूँ। अत: अब तो किसी गहरी नदी या जलाशय में डूबकर मरना ही अन्तिम उपाय शेष रह गया है।

इसतरह अन्तर्जल्प करते-करते मनमोहन की आँख लग गई। आँख क्या लग गई। सोते-सोते स्वप्न में भी वही रटन ... हाय ... हाय ... अब क्या करूँ?

धर्मेश धर्मध्यान, आत्मचिंतन और तत्त्वमंथन करने हेतु एकान्त स्थान खोजते हुए कभी नदी के किनारे तो कभी किसी पहाड़ी पर; कभी सघनवृक्ष की छाया तले तो कभी किसी बाग-बगीचे में; कभी किसी तीर्थ पर तो कभी किसी वसतिका में चला जाता था।

एक दिन वह नदी के किनारे पर बैठा-बैठा सूर्यास्त का मनोहारी दृश्य देख रहा था और सोच रहा था - "जैसे इस सूर्य की इहलीला समाप्त हो रही है, इसका प्रकाश व प्रताप प्रतिक्षण क्षीण हो रहा है; ठीक इसीतरह मानव जीवन भी प्रतिपल मृत्यु की ओर बढ़ रहा है। यह जीवन सूर्य की भाँति ही द्रुतगति से मृत्युरूपी अस्ताचल की ओर बढ़ रहा है; अतः जीवन का प्रकाश रहते यथासंभव शीघ्र ही आत्मावलोकन कर लेना चाहिए। इन प्राकृत दृश्यों के देखने में अपने समय को खराब नहीं करना चाहिए।"



- ऐसा सोचकर ध्यानस्थ हुआ ही चाहता था कि पीछे से ध्यान को भंग करती हुई 'धड़ाम'-सी आवाज आई। मानो किसी ने पहाड़ी पर से नदी के गहरे पानी में छलाँग लगाई हो।

मुड़कर देखा तो गोते खाता, डूबता-उतरता एवं घबराता हुआ हाथ-पाँव फड़फड़ाता एक व्यक्ति दिखाई दिया। जो कुछ-कुछ जाना-पहचाना-सा लगा। धर्मेश ने पास जाकर देखा तो आँखें फटीं की फटीं ही रह गईं।

"अरे ! यह तो मनमोहन है। इसे यह क्या सूझा ? माना कि इसे अपने किए पापों का बहुत पश्चाताप है, आत्मग्लानि भी बहुत है। पर ··· ऐसा अनर्थ ?

निश्चय ही वह अपना संतुलन खो बैठा है। अन्यथा मनुष्य गति के इन सामान्य से अल्पकालिक दु:खों से बचने के लिए वह आत्मघात करके नरक गति के असह्य, कल्पनातीत, दीर्घकालिक दु:खों को आमंत्रण नहीं देता।

अरे ! मैं यह क्या सोचने लगा ? किन विचारों में भटक गया ? देखूँ तो सही, सम्भव है कि अभी जीवित हो। अभी यह सब सोच-विचार का समय नहीं है।"

– ऐसा विचार आते ही धर्मेश अपनी जान को जोखिम में डालकर अथाह नदी में कूद गया और उसे नदी के मध्य से किनारे पर खींच लिया।

मनमोहन के पेट में पानी तो बहुत भर चुका था, पल दो पल में ही प्राणांत होने वाला था; पर दैवयोग से वह बच गया। पश्चाताप की पंचाग्नि में तप कर और प्रायश्चित की गंगा में गोते लगा कर उसने अपने पापों का प्रक्षालन तो कर लिया; पर अभी भी उसकी आत्मग्लानि कम नहीं हुई, उसे आत्मसंतोष नहीं हुआ।

उसने धर्मेश से कहा – "भाई ! इन दुर्व्यसनों के कारण मैं आत्महत्या जैसे जघन्य पाप करने को विवश हो गया और नदी में कूद पड़ा; यदि आप नहीं बचाते तो ···।

अब मैं इस जीवन से तो मानों मर ही चुका हूँ। अत: अब मैं पुन: इस पापचक्र एवं विषयवासना के दलदल में नहीं फंसना चाहता हूँ। अब तो मैं आपके सान्निध्य में रहकर धर्मध्यान के लिए ही जीना चाहता हूँ। आपकी शरण में ही रहना चाहता हूँ।"

ऐसा कहते-कहते वह भावुक हो उठा, उसकी आँखों से पुन: पश्चाताप की अश्रुधारा प्रवाहित होने लगी।

१४

धर्मेश का मित्र अमित व्यसनी तो था, पर बेईमान और बदमाश नहीं था। अपने व्यसनों की बुरी आदत के कारण हुई परिवार की परेशानियों को देखकर और अपने श्वसुर मनमोहन के दु:खी परिवार को देखकर अब वह अपने व्यसनों को स्वयं भी बुरा मानने लगा था और उन्हें छोड़ने का मन भी बना लिया था, पर अभी वह छोड़ नहीं पा रहा था।

जहाँ कुछ समय पहले वह व्यसनों की बुराइयों और हानियों को सुन भी नहीं सकता था, वहीं अब वह विषय-वासनाओं और व्यसनों की बुराइयों को न केवल ध्यान से सुनता, बल्कि सिद्धान्तत: स्वीकार भी करता कि वस्तुत: ये सब त्याज्य हैं। इतना ही नहीं, उन्हें त्यागने का संकल्प भी करता।

जब वह ऐसी भावना व्यक्त करता तो धर्मेश सहित सभी परिजन-पुरजनों को भारी प्रसन्नता होती, बहुत अच्छा लगता; परन्तु उसके संकल्प हफ्ते-दो हफ्ते से अधिक नहीं टिक पाते। फिर वहीं का वहीं, वैसे का वैसा व्यसनों में लिप्त हो जाता।

इन दुर्व्यसनों का स्वरूप ही कुछ ऐसा है, जो एक बार फँसा सो फँसा। फिर इनसे उबरना बहुत कठिन काम है। इसीकारण इस बार उसके त्याग के संकल्प पर किसी ने कोई खास खुशी जाहिर नहीं की।

परन्तु इस बार अमित ने सचमुच दृढ़ संकल्प के साथ संपूर्ण दुर्व्यसनों को जीवनपर्यन्त के लिए तिलांजलि दे ही दी और धर्मेश के सान्निध्य में प्रतिदिन नियमित होनेवाले प्रवचनों में सम्मिलित होने लगा।

'जब जाग जाओ, तभी है सवेरा' की उक्ति के अनुसार अमित के विषयों से विरक्त होने की चर्चा पानी में तैल व हवा में गंध की तरह गाँव भर में फैल

गई। सर्वत्र सबके मुँह पर एक ही बात अमित... अमित..., अमित...; परन्तु जितने मुँह, उतनी तरह की बातें।

कोई कहता - "नौ सौ चूहे खाकर बिल्ली हज को चली है।"

दूसरा उसकी बात को काटता हुआ कहता - "अरे भाई ! इसमें कौनसी नई बात है, बड़े से बड़े धर्मात्मा भी धर्मात्मा बनने के पहले तो पापी ही थे। पापी ही तो पाप का त्याग कर एक न एक दिन पुण्यात्मा और धर्मात्मा बनते हैं। श्रीकृष्ण के पुत्र शंभुकुमार एवं राजा मधु की पौराणिक कथा इसके ज्वलंत प्रमाण हैं।

हरिवंश पुराण पढ़ने वाले यह भली-भाँति जानते हैं कि - महारानी जाम्बुवती की कोख से जन्मे शंभुकुमार ने अपनी हविस को पूरा करने की खोटी भावना से अपने पिता श्रीकृष्ण को किसी तरह प्रसन्न करके पुरस्कार स्वरूप एक माह के लिए राज्य सत्ता प्राप्त की थी। और जब शंभुकुमार को सत्ता सौंपकर श्रीकृष्ण अज्ञातवास में चले गये तो अवसर पाते ही शंभुकुमार की पापमय स्वच्छंद प्रवृत्ति किस तरह प्रबल हो उठी थी? उसकी कामवासना ऐसी तीव्रतम जागृत हो गई थी, मानो आग में घी पड़ गया हो। तब उन्होंने क्या-क्या अनर्थ नहीं किए ? ऐसे निर्लज्ज कार्य किये; जिनके कहने में भी शर्म आती है।

फिर भी पुराण कहते हैं कि उन्हीं शंभुकुमार ने अपने पापों का प्रायश्चित्त करके आत्म-साधना के अपूर्व पुरुषार्थ द्वारा गृहस्थपना छोड़कर मुनिधर्म अंगीकार कर निजस्वभाव साधन द्वारा उसी भव में घातिया-अघातिया कर्मों का क्षय करके केवलज्ञान एवं मोक्ष प्राप्त किया।

ऐसा ही दूसरा प्रसंग राजा मधु के साथ बना था। उसने अपने अधीनस्थ राजा हरिभद्र की पत्नी चन्द्राभा का अपहरण करके, उसे अपनी रखैल (उप-पत्नी) बनाकर घर में रख लिया। परिणामस्वरूप चन्द्राभा का असली पति अपनी प्रियतमा चन्द्राभा के वियोग में पागल हो गया और गली-गली घूम-घूम कर अपनी पत्नी वापिस लौटा देने की गुहार करता रहा। फिर भी

राजा मधु ने उसे नहीं लौटाया। ऐसा अन्याय करने पर भी राजा मधु ने अन्त में अपनी भूल सुधार कर स्वर्ग समान भोगभूमि में उत्तम गति प्राप्त की।"

तीसरा बोला - "इसीलिए तो मैं कहता हूँ कि अरे भैया! इन चक्करों से जब छूट पावे, तभी अच्छा। दुर्व्यसनों से पल्ला छुड़ाना आसान काम नहीं है। यह काम किसी भी महाभारत जैसी बड़ी जंग को जीतने से कम नहीं है।

जंग जीतना आसान है, पर व्यसनों से पार पाना कठिन है। जो दिन में दस-दस पैग पीता हो, दिन-रात शराब के नशे में धुत्त रहता हो, चेनस्मोकर हो और मुँह से रेलगाड़ी के कोयले के इंजन की तरह धुँआ छोड़ता ही रहता हो, रात-रात भर जागकर नृत्यांगनाओं के नृत्य-गान देखता-सुनता रहता हो, दिनभर आँखों में नींद भरे अर्द्ध विक्षिप्त-सा पड़ा रहता हो, जिसका न खाने-पीने का सही समय हो, न सोने-जागने का कोई निश्चित समय। तेज मसालों का तीखा गरिष्ठ भोजन करना और नित्य नई-नई नगरवधुओं के द्वार पर दस्तक देना ही जिसका काम हो - ऐसा व्यक्ति जब भी, जो भी, जितना भी त्याग करता है, अच्छा ही है। आप ही सोचो - ऐसे व्यक्तियों से विषयों से विरक्त होने की आशा व अपेक्षा की ही कैसे जा सकती है ?"

चौथा बोला - "इन बातों में क्या धरा है ? वह अब भी सुधरने वाला नहीं था। हुआ यह कि एक दिन उसके फेमिली डॉक्टर ने जवाब दे दिया कि जाओ ! घर जाओ ! अब मेरे पास आने की जरूरत नहीं है। कहीं भी/ किसी भी डॉक्टर के पास जाने की जरूरत नहीं है। बस, दो-चार माह और पीलो, खालो और मजे उड़ालो, फिर तो... कहते-कहते डॉक्टर चुप हो गया।

डॉक्टर को चुप देख अमित ने लड़खड़ाती जबान से कहा - "फिर ... क्या ... ?"

डॉक्टर बोला - "फिर तो सागरों पर्यन्त शराब तो क्या ? पानी की एक-एक बूंद को और अन्न के एक-एक दाने को तरसना ही है।"

बीच में बात काटते हुए तीसरे ने पुनः पूछा - "और क्या-क्या कहा था डॉक्टर साहब ने ?"

चौथे का उत्तर था - "अरे ! उन्होंने साफ-साफ कह दिया, अमित ! सिगरेट व शराब पीने से तुम्हारे दोनों फेफड़े जर्जर हो गये हैं, लीवर ने काम करना बन्द कर दिया है। मांसाहार से तुम्हारी आतें बिल्कुल खराब हो गई हैं। बाजारू औरतों के सम्पर्क से तुम्हें 'एड्स' जैसी खतरनाक जान लेवा बीमारी हो सकती है। सिगरेट, सुरा और सुन्दरी ने तुम्हारे अंग-अंग को क्षीण कर दिया है। जितने वर्ष तुम जी चुके हो, अब उतने महीने भी तुम्हारे जीने की आशा नहीं है।"

पाँचवाँ बोल उठा - "अच्छा ! यह बात है, तभी तो मैं कहूँ कि यह पश्चिम से सूरज कैसे निकल आया ? अब समझ में आया कि मौत को माथे पर मँडराता देख धर्मात्मा बनकर परमात्मा को प्रसन्न करने का प्रयास किया जा रहा है; पर ऐसे पापियों से परमात्मा प्रसन्न होने वाले नहीं हैं। भगवान इतने भोले थोड़े ही हैं, इसने भी उनकी कब सुनी जो वे इसकी सुनेगे।

चौथे ने पुनः कहा - "अरे भाई ! तुम्हें अकेले उसी से इतनी चिढ़ क्यों है ? हम तुम भी तो उसी थैली के चट्टे-बट्टे हैं। कोई दो कदम आगे तो कोई दो कदम पीछे। इससे क्या फर्क पड़ता है ? हो सकता है हम उस स्टेज पर भी न पहुँच पायें, संभल न पायें। हमें अपनी ओर भी तो देखना चाहिए। ऐसा न हो कि हम कुत्ते की मौत मरें और कान में धर्म के दो शब्द सुनाना तो दूर, कोई मुँह में पानी की दो बूँदें डालने वाला भी न मिले।"

इसी बात का समर्थन करते हुए छठवाँ बोला - "अरे भाई ! ऐसी [illegible] बात करते हो ? वैसे देखा जाए तो सभी महान आत्माएँ भी तो [illegible] इसी तरह भूले-भटके ही थे। तभी तो वे भी संसार में जन्म-[illegible] जब संभले-सुधरे, तभी तो उन्हें भी मोक्ष मिला।

इसीलिए तो कहा है कि 'पाप से घृणा करो, पापी से नहीं [illegible] भी परमात्मा बन सकता है।

भगवान महावीर के जीव को ही देख लो ! कहाँ पुरुरवा भील जैसा हिंसक हत्यारा, कहाँ मारीचि जैसा मिथ्यादृष्टि और कहाँ परमपूज्य भगवान महावीर स्वामी की परम पवित्र पर्याय ?

भील के भव में उन्होंने क्या-क्या पाप नहीं किए होंगे ? शराब भी पीते ही होंगे, मांस भी खाते ही होंगे। आखिर जंगली ही तो थे। अतः भूत को तो भुलाना ही पड़ेगा। वर्तमान को संभालने से भविष्य अपने आप संभल जाता है। अतः अमित ने जो भी किया अच्छा ही किया। जब चेता तभी ठीक। कल्याण होने में देर ही क्या लगती है ? अनन्त काल की भूलों को मेटने के लिए अनन्त काल थोड़े ही लगता है ? जिसप्रकार रातभर के स्वप्न जागते ही समाप्त हो जाते हैं; ठीक उसी प्रकार भेदज्ञान होते ही, सम्यग्ज्ञान का सूर्य उदित होते ही, सारा अज्ञान अन्धकार नष्ट हो जाता है और पापाचार छूट जाते हैं।"



छठवें मित्र ने बात को आगे बढ़ाते हुये कहा - "हाँ, अब भी यदि वह आत्मा का आश्रय न ले सका और जैनदर्शन के मूलभूत सिद्धान्तों को न समझ सका, केवल बाह्य धर्मक्रियाओं को ही धर्म मानकर संतुष्ट हो गया तो वह **पीड़ाचिंतन जैसे आर्तध्यान** से स्वयं को नहीं बचा पाएगा। जब इतने भयंकर रोगों से उसकी देह ग्रसित है तो दर्द तो होगा ही। बारबार उस दर्द की ओर उपयोग भी जाए बिना नहीं रहेगा। शारीरिक पीड़ा के साथ मानसिक पीड़ा भी होती ही है।

इन सबसे बचने के लिए **देह और आत्मा की भिन्नता और वस्तुस्वातंत्र्य के सिद्धान्त को सतत् याद रखना, अपने किए पापों के फल का विचार और संसार की असारता का बारम्बार स्मरण करना अत्यन्त आवश्यक है।**

अन्यथा पीड़ाचिंतन आर्तध्यान का फल तो अधोगति ही है; क्योंकि इसमें परिणाम निरन्तर संक्लेशमय रहते हैं, जिनका फल नर्क -निगोद है।

छहढाला में कहा भी है -

'अति संक्लेश भाव तें मर्‌यौ, घोर श्वभ्रसागर में पर्‌यो।'

भाई ! यह बात केवल अमित की ही नहीं है, इस मामले में हम सब भी अमित के ही छोटे-बड़े भाई हैं। अतः यदि सचमुच अपना कल्याण करने की अभिलाषा जगी हो तो धर्मेश जैसे व्यक्ति के सान्निध्य में रहना ही होगा।"

इसप्रकार अमित को लेकर उसकी मित्रमण्डली में काफी अच्छा ऊहापोह हुआ। जिससे अनेक लोगों के भ्रम भी भंग हुए तथा बहुत से तथ्य भी सामने आये। किसी ने ठीक ही कहा है - 'वादे-वादे जायते तत्त्वबोधः।'

ऐसी चर्चा करते-करते सभी अपने-अपने घर चले गए।

इधर अमित ने भी भयंकर पीड़ा से कराहते हुए बिस्तर पर करवट बदल ली और आँखें बन्द करके सोने का असफल प्रयत्न करने लगा।

१५

सहज संयोग कहें या दैवयोग, एक दिन धर्मेश को एक ऐसा ग्रन्थ हाथ लग गया, जिसने न केवल उसके मन को झकझोरा, बल्कि उसकी दिशा ही पलट दी।

ग्रन्थ हस्तलिखित था और राजस्थानी-ढूंढारी पुरानी भाषा में लिखा हुआ था, जो धर्मेश की मातृभाषा तो थी ही नहीं, प्रचलित राष्ट्रभाषा भी नहीं थी। इसकारण यद्यपि उसे पढ़ने में बहुत कठिनाई हुई; फिर भी उसने उसे बारम्बार पढ़ा। पढ़कर वह उससे इतना अधिक प्रभावित हुआ कि - 'मानो उसे साक्षात् मोक्षमार्ग मिल गया हो।' वह जिसकी खोज में था, अनायास वही चिन्तामणि रत्न उसके हाथ लग गया था। अतः वह उसे कंठस्थ कर लेना चाहता था, आत्मसात् कर लेना चाहता था। हस्तलिखित ग्रन्थ था और एक ही प्रति थी, वह भी जीर्ण-शीर्ण हालत में। अतः उसने पूरे ग्रन्थ की अपने हाथ से अपनी लिपि में प्रतिलिपि कर ली। फिर क्या था, उसके हर्ष का पारावार नहीं रहा।

अब तो जो भी उसके संपर्क में आता, सबको रस ले-लेकर उस ग्रन्थ के महत्त्वपूर्ण अंशों को ही पढ़-पढ़ कर सुनाता। जो सुनता वह भी गद्गद् हुए बिना नहीं रहता। न केवल गद्गद् होता बल्कि उस पर रीझता भी, समर्पित भी होता।

जिनकी भली होनहार होती है, उनका ही पुरुषार्थ सही दिशा में सक्रिय होता है और उन्हें निमित्त भी तद्नुकूल मिलते ही हैं।

धर्मेश ने उस ग्रन्थ के प्रथम अध्याय के प्रारंभ में ही जब ये पंक्तियाँ पढ़ीं कि - **अहो ! भली होनहार है जिनकी, उनको ऐसा विचार आता है कि मैं कौन हूँ ? मेरा क्या स्वरूप है ? यह चारित्र कैसे बन रहा है ? ये जो मेरे भाव होते हैं, इनका क्या फल लगेगा ?**...

इन पंक्तियों को पढ़कर धर्मेश अत्यन्त गंभीर हो गया था, सोच-विचार में पड़ गया था। उसे लगा - अहा ! इसमें तो एक-एक वाक्य गज़ब का है, एक-एक बात विचारणीय है।

यद्यपि धर्मेश की लौकिक शिक्षा बहुत अधिक नहीं हो सकी थी, परन्तु उसकी सोचने-समझने की शक्ति बहुत थी।

उसने सोचा - बिहारी कवि की सतसई के बारे में जो यह कहा जाता है कि -

सतसैया के दोहरे, ज्यों नाविक के तीर ।
देखन में छोटे लगें, घाव करें गंभीर ॥

पर, उन दोहों में इतनी गहराई कहाँ ? जितनी गहराई इस ग्रन्थ की इन पंक्तियों में है ? इस ग्रन्थ के लेखक ने तो गजब ही कर दिया है।

स्वाध्याय तो सभी करते हैं, पर धर्मेश जैसे व्यक्ति विरले ही होते हैं, जो ग्रन्थ के एक-एक वाक्य पर इतनी गहराई से विचार करते हैं। एक-एक पंक्ति पर इतना ध्यान देते हैं। एक-एक सत्य सिद्धान्त पर समर्पित हो जाते हैं, रीझ जाते हैं।

धर्मेश का सोचना था - जिन खोजा तिन पाइया, गहरे पानी पैठ।

जो जिनवाणी रूपी दरिया में गहरे गोते लगाता है, रत्नत्रयरूपी रत्न उसी के हाथ आता है। जो डूबने से डरते हैं, उनके हाथ तत्त्व नहीं आता।

धर्मेश जन्मजात क्रान्तिकारी तो था ही, वयस्क होते-होते सत्य की शोध में भी लग गया था। उसे वे पंक्तियाँ असाधारण लगीं। उसका मन वहीं थम गया, आगे बढ़ने का उसका मन ही नहीं हुआ। वस्तुतः बात भी असाधारण थी। जो भी उन पंक्तियों को ध्यान से पढ़ता-सुनता, उन पर विचार करता; उसका हृदय प्रभावित हुए बिना नहीं रहता।

अमित से भी मैंने इन पंक्तियों पर ध्यान देने को, चिन्तन-मनन करने को कहा था; पर उसने मेरे कहने को गंभीरता से नहीं लिया, सो नहीं लिया।

देखो न !'**भली होनहार है जिनकी अहा ... !**' यह एक वाक्य ही कितने गजब का है ? सारा जगत तो पुण्य के उदय से प्राप्त बाहर की अनुकूलता को ही अपनी भली होनहार माने बैठा है।

सुख के बारे में भी अधिकांश व्यक्ति यह कहते मिल जायेंगे कि -

पहला सुख निरोगी काया, दूसरा सुख घर में हो माया।
तीसरा सुख कुलवन्ती नारी, चौथा सुख पुत्र आज्ञाकारी॥
पंचम सुख प्रमुखता घर-बाहर, छठवाँ सुख समाज में आदर।
इससे अधिक और क्या भाई, तीन लोक की सम्पत्ति पाई ॥

यही कारण है कि लोग तन-धन-स्त्री-पुत्र की अनुकूलता और आदर-सम्मान प्राप्त करने के लिए पागल हो रहे हैं।

यह मूढ़ जगत ऐसीं हीं और न जाने कितनी कपोल-कल्पित कल्पनाओं में सुख मान कर बैठा है और इसे ही अपनी भली होनहार मानता है; जबकि ये सब क्षणिक संयोग हैं। एक क्षण में ही इन सभी अनुकूलताओं को प्रतिकूलताओं में पलटते देर नहीं लगती। यह कैसी भली होनहार है, जो पल भर में बुरी होनहार में पलट जाती है।

सच्चे धर्मात्मा तो सच्चे देव-शास्त्र-गुरु की शरण प्राप्त होने को ही अपना भाग्योदय मानते हैं; धर्म की रुचि एवं तत्त्व को समझने की जिज्ञासा जगने को ही अपना अति पुण्य का उदय, धन्य जीवन और भली होनहार मानते हैं।

दर्शनपाठ इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है -

अतिपुण्य उदय मम आया, प्रभु तुमरा दर्शन पाया ।
तव पद मम उर में आये, लखि कुमति विमोह पलाये ।
निज ज्ञानकला उर जागी, रुचि पूर्ण स्वहित में लागी ॥

देखो, यहाँ यह नहीं कहा कि -

'अतिपुण्य उदय मम आया, पाई निरोगी काया'

यह भी नहीं कहा कि -

'अतिपुण्य उदय मम आया, अरबों का वैभव पाया।'

और भी इसी तरह क्या कहा और क्या नहीं कहा ? - इस पर विचार किया जाना चाहिए।

धर्मेश सोच रहा था - ये सभी बातें बहुत ही गहराई से विचारणीय हैं। इस ग्रन्थ में ऐसी-ऐसी न जाने कितनी बातें होंगी। अहा हा ... ! इस ग्रन्थ की तो एक-एक पंक्ति में मौलिकता दृष्टिगोचर होती है।



अकेले-अकेले स्वाध्याय करने से उपयोग उतना अधिक स्थिर भी नहीं हो पाता, अतः यदि हम सब सामूहिक स्वाध्याय करें, परस्पर चर्चा करें, तो विशेष काम हो सकता है। देखते हैं क्या होता है ? यदि ऐसा कुछ बनाव बनता है तो हम सबके लिए हितकर रहेगा -

ऐसा सोचते-विचारते वह अपने नित्यकर्म में लग गया।

१६

भारतीय भूमि पर जन्मे मानवों में धर्म का ज्ञान हो या न हो, वे धर्म के सही स्वरूप को जानते हों या न जानते हों, वे धर्मात्मा हों या न हों; पर धर्म करने की भावना एवं धर्मात्मा बनने की भावना तो प्रायः सभी में रहती ही है। और अपनी-अपनी समझ के अनुसार प्रायः सभी धर्मसाधन भी करते ही हैं।

पापी से पापी व्यक्ति, चाहे वह बूचड़खानों में कसाई के करम करने वाला हो; दिन-रात झूठ-फरेब, धोखा-धड़ी करने वाला हो; एक नम्बर का चोर-ठग या डाकू हो, गुण्डा बदमाश हो; ऐसा महालोभी हो कि पैसे को ही परमात्मा समझ बैठा हो; शराबी-कबाबी हो, सभी दुर्व्यसनों में लिप्त हो; वह भी अपनी-अपनी हैसियत के अनुसार शक्ति प्रमाण धर्म के नाम पर कुछ न कुछ अवश्य करता है। चाहे वह कबूतरों को दाना चुगाने का रूप हो, चींटियों के बिलों में आटा बिखेरने का रूप हो, गायों को चारा देने का रूप हो, भले वह देवी-देवताओं के चित्रों के आगे अगरबत्ती जलाने का रूप ही क्यों न हो; पर सुबह-शाम दोनों संध्याओं के समय कुछ न कुछ करेगा अवश्य, तभी अपने-अपने धंधे पर जायेगा। पर बिना विवेक के यह सब करने से कोई लाभ नहीं होता। यह सब तो कोरी आत्मसंतुष्टि मात्र है। स्वयं को धोखे में रखना है। पाप परिणति किसी भी कारण हो, उससे पापबंध तो होगा ही होगा। आजीविका आदि का बहाना उस पापबन्ध से नहीं बचा सकता।

यदि धर्म के नाम पर यही या इसीप्रकार की कुछ और अधिक खर्चीली क्रियायें सम्पत सेठ ने भी कर-करा डालीं, तो ये उसके धर्मात्मा होने के लक्षण नहीं हैं।

भाई ! धर्म प्रदर्शन की वस्तु नहीं, धर्म तो आत्मदर्शन का नाम है; जिसका विस्तृत विवेचन जैनदर्शन में है। केवल जैनकुल में जन्म ले लेने से और

धर्मायतनों के निर्माण में धन दे देने से धर्म उपलब्ध होने वाला नहीं है। उसके लिए स्वयं को जैनदर्शन का अध्ययन (स्वाध्याय) तो करना ही होगा। तभी इस लोक में और परलोक में भी सुख मिल सकेगा। पर सम्पत सेठ में अभी ऐसा कुछ भी दिखाई नहीं देता।

सम्पत सेठ को अपने उद्योग-धंधों और व्यापार में अति व्यस्तता के कारण परलोक के संबंध में सोचने का अभी समय ही कहाँ ? जब भी कभी/ कोई प्रवचन में आने या स्वाध्याय करने की बात कहता तो उसका एक ही तकिया कलाम उत्तर होता - अरे भाई ! अभी तो मरने की भी फुर्सत नहीं है …। हाँ, हमारे लायक कहीं/कोई काम हो तो कहना, आवश्यकतानुसार हम आपका तन-मन-धन से सहयोग करने को तैयार हैं।

सचमुच देखा जाए तो वास्तविक बात यह है कि उसे आत्मा-परमात्मा और परलोक के विषय में न कुछ जानकारी है और न कुछ जिज्ञासा ही है। उसने इतनी दूरदृष्टि से कभी सोचा ही नहीं है। धार्मिक कार्यों में धन खर्च करने से ही उसे सर्वाधिक सम्मान मिलता रहा, इसकारण पैसा कमाने व खर्च करने में ही उसकी रूचि बढ़ती गई।

सम्पत सेठ का मानना है कि आज के युग में धन के बिना कुछ नहीं होता। धरम भी धन के बिना कैसे होगा ? दान-पुण्य आदि करने को भी तो पैसा ही चाहिए न ? परमात्माओं की प्रतिष्ठा भी बिना पैसों के नहीं होती। अतः परिवार के पुरुष वर्ग का प्रमुख काम तो उद्योग-धंधों को चरमोत्कर्ष पर पहुँचाना ही है। धर्मध्यान एवं जप-तप करने के लिए तो घर में निठल्ली बैठीं महिलायें ही पर्याप्त हैं।

सम्पत सेठ की मानसिकता के अनुरूप ही उसके परिवार की महिलायें भी अपने पति, पुत्र, परिवार और व्यापार की कुशलता की कामना हेतु यथाशक्ति व्रत-उपवास, पूजा-पाठ, दान-पुण्य के काम किया ही करतीं तथा देवी-देवताओं की मनौतियां भी मनातीं ही रहतीं। हाँ, जिन कार्यों में मान-सम्मान और सामाजिक नेतृत्व मिलता हो, उनके लिए सेठ कभी मना न[illegible]ता।

सम्पत सेठ ने जन्मजात जैन होने के नाते पृथक् से देवी-देवताओं के मन्दिर तो नहीं बनवाये; पर जो जैन मंदिर बनवाया, उसी के अगल-बगल में रक्षक के रूप में देवी-देवता तो स्थापित करवा ही लिए।



सेठ ने सोचा - "यदि वे हमारे मददगार होते होंगे तो हो जाएंगे। और न भी होंगे तो न सही, फिर भी उनकी उपासना करने में अपनी हानि ही क्या है ? अपना ले क्या जाएंगे ? जितना खर्च उनकी पूजा-पत्री में होता है, इतने बड़े व्यापार में उतना तो चूहा-बिल्ली ही खा जाते हैं। यदि देवी-देवता मुट्ठीभर तंदुल, पुष्प, दीप-धूप और फलादि से ही प्रसन्न हो जाते हैं, तो इससे सस्ता सौदा और हो ही क्या सकता है ?

धरम-करम के सब साधन जुटाने का जो अपना कर्त्तव्य है, सो वे साधन तो सब जुटा ही रखे हैं। वैसे सचमुच देखा जाए तो अगला जन्म देखा ही किसने है ? फिर भी होता भी हो तो उसके लिए भी भरपूर इंतजाम है ही। इससे अधिक तो और किया भी क्या जा सकता है ?"

सेठ इससे अधिक और सोच भी क्या सकता था ? व्यापारी-बनिया जो ठहरा। 'पैसा फैंको तमाशा देखो' के सिवाय अभी तक उसने और कुछ किया भी नहीं था।

'परहित सरिस धरम नहिं भाई' की उक्ति के अनुसार सेठ ने परोपकार के उद्देश्य से अनाथालय, औषधालय, विद्यालय, वृद्धाश्रम और विधवाश्रम आदि लोक कल्याण के कार्य तो अपने निजी पारमार्थिक ट्रस्टों द्वारा चला ही रखे थे; पर जबसे उसने किसी से यह सुन लिया कि औषधि दान से अपना शरीर निरोग रहता है, शारीरिक बल बढ़ता है; ज्ञानदान से अपना ज्ञान बढ़ता है, बुद्धिबल बढ़ता है; आहार दान से गृहलक्ष्मी अन्नपूर्णा हो जाती है, घर में अन्न का अक्षय भंडार भरा रहता है; वृद्धों की, विधवाओं की, अनाथों की, भिखारियों की सेवा करने से यशलाभ होता है; तब से उसकी रुचि इसप्रकार के कार्यों में और भी विशेष बढ़ गई थी।

अब वह सोचने लगा – आम के आम गुठलियों के दाम की शैली से चलने वाले इन पारमार्थिक ट्रस्टों से हमें हानि तो कुछ है ही नहीं; बल्कि लाभ ही लाभ है। इसमें खर्च होने वाला धन तो सब धर्मादा फण्डों से आ ही जाता है, जो सीधा विक्रेता व्यापारी से ही आता है। अतः इनका आर्थिक बोझ तो अपने माथे कुछ है ही नहीं।

'नाम का नाम साथ में अनेक काम' इससे उत्तम और क्या हो सकता है ? जबसे चिकित्सालय खुला, डॉक्टरों की हजारों रुपये फीस के तो बचने ही लगे, छोटी-मोटी दवाइयाँ भी वहाँ से आ जाती हैं। टेलीफोन के एक संकेत पर चिकित्सालय का बड़े से बड़ा डॉक्टर तत्काल सेवा में उपस्थित हो जाता है।

बच्चों की ट्यूशनों में जो खर्च होता था, वह खर्च भी अब [illegible] के शिक्षकों की अतिरिक्त सेवाओं से [illegible] गया है।

व्यक्तिगत एवं घरेलू किसी [illegible] आश्रम से मनचाही किसी [illegible] बुलाओ, तत्काल सेवा में [illegible] भी क्या है ?

धर्मेश सम्पत सेठ के इन [illegible] से अपरिचित नहीं [illegible]

था, वह निदान नामक आर्तध्यान और परिग्रहानन्दी रौद्रध्यान की सीमा से उभर नहीं पा रहा था। इसकारण धर्मेश को बारम्बार विकल्प उठता था -

कदाचित् इसका इसी स्थिति में मरण हो गया तो निश्चित ही इसकी अधोगति ही होगी। लोकोपकारी कार्यों को देखकर लोक भले ही इसकी देह को ससम्मान चंदन की चिता से जलायें, बड़े-बड़े नेता इसकी श्रद्धांजलि सभायें करें और उनमें इसके इन कार्यों का गुणगान करें; पर इन सबसे इसके आत्मा को क्या लाभ होगा ?

किसी चौराहे पर स्टेच्यू भी लग जायेगा, जिसे देख-देख परिवार के लोग गौरवान्वित भी हो लेंगे; पर सम्पत सेठ के आत्मा को तो उसके परिणामों का फल भोगना ही पड़ेगा। सम्पत सेठ के जितने भी परमार्थ के काम हैं, कहने मात्र परमार्थ के हैं; वस्तुत: तो वे सभी भोग-सामग्री की प्राप्ति, उसी भोग सामग्री के संरक्षण एवं भोगों की पुष्टि के लिए ही हैं। अत: स्पष्ट अशुभ निदान आर्तध्यान ही है।

धर्मेश ने सोचा - उस बेचारे को कुछ पता तो है नहीं कि - **मेरे जो ये भाव हो रहे हैं, इनका फल क्या होगा ?** अत: ऐसा कोई उपाय अवश्य सोचना पड़ेगा, जिससे ऐसे लोग प्रभावित हों और जिनवाणी की शरण में आयें और धर्म के मर्म को पहचानें।

धर्मेश यह भी भली-भाँति जानता है कि भले ही कोई आध्यात्मिक क्रान्तिकारी कदम किसी को यकायक स्वीकृत न हो, इस कारण कोई विरोध भी हो सकता है; पर सामान्य रुचि वालों को एकत्रित करने का इसके सिवाय अन्य कोई उपाय भी तो नहीं है। विरोध भी तो प्रचार का एक सशक्त साधन है। वातावरण तो बन ही जायेगा। विरोध करने वालों को बाद में शान्ति से समझायेंगे। सफलता मिलने पर बहुतों को तो बिना समझाये ही समझ में आ जायेगा। प्रारंभ में थोड़ी-सी रिस्क तो उठानी ही पड़ेगी।

ऐसे विचार से उसे मन ही मन कुछ संतोष हो गया और वह विश्राम के लिए चला गया। ●

१७

सम्पत सेठ धर्मेश के पिता का सबसे श्रेष्ठ व घनिष्ठ मित्र माना जाता था। वह धर्मेश के पड़ोस में ही रहता था। घर जैसे ही संबंध थे उन दोनों परिवारों में।

यद्यपि सम्पत सेठ अपने गाँव में भी आर्थिक दृष्टि से खूब सम्पन्न था, कोई कमी नहीं थी उसे वहाँ; पर वह महत्वाकांक्षी बहुत था। अत: बीस वर्ष पहले व्यापार के विस्तार के लिए वह उद्योगनगरी बम्बई पहुँच गया था। वहाँ भाग्योदय से वह दस-बारह वर्ष में ही बहुत बड़ा उद्योगपति बन गया। अब तो उसकी गिनती टाटा-बिड़ला जैसे उद्योगपतियों में होने लगी।

अब उसके पास आय के इतने अधिक और स्थाई स्रोत हो गये कि यदि वह अपने शेष अमूल्य जीवन का एक क्षण भी उद्योग-धंधे में न दे तो भी उसकी आय पर और उद्योग-धंधों पर कोई विपरीत प्रभाव नहीं पड़ेगा।

उसके उद्योग को सुचारु रूप से चलाने के लिए उसके पास योग्यतम कार्यकर्त्ता एवं कर्मचारी तो हैं ही, उसके पुत्र-पौत्र भी उससे अधिक कुशल हो गये हैं और पूरी जिम्मेदारी से काम संभालने लगे हैं। अधिकांश उद्योग तो विकसित भी उन्हीं पुत्र-पौत्रों की तकनीकी सूझ-बूझ और श्रम से ही हुए हैं।

परन्तु सम्पत सेठ को स्वयं ही धन कमाने का भारी शौक है। उसे कमाई के कामों में आनन्द भी बहुत आता है। पचहत्तर वर्ष की उम्र में भी वह व्यापार में एक नवयुवक की तरह उत्साहित होकर रुचि लेता है और आठ-आठ घंटे जमकर ऑफिस में बैठता है, जबकि डॉक्टर ने पूर्ण विश्राम करने का परामर्श दिया है। उसे दो बार तो सीवियर हार्ट-अटैक हो चुका है। पर पता नहीं, वह अपनी जान को जोखिम में डालकर ऐसा क्यों करता है ? मना करने पर भी क्यों नहीं मानता ?

लगता है सेठ की होनहार ही खोटी है; अन्यथा ये दिन कोई ऐसी मोह-ममता में पड़े रहने और ऐसे बिना मतलब के काम करने के थोड़े ही हैं।

किसी की कोई मजबूरी हो; रोटी, कपड़ा और मकान की समस्या हो तो बात जुदी है; पर उसके साथ ऐसा कुछ भी तो नहीं है। उसके पास तो सात-सात पीढ़ियों तक की आजीविका का पक्का इन्तजाम है।

उसके पास करोड़ों का तो कैश-नगद रुपया होगा। बड़े-बड़े उद्योगों पर उसका एकाधिकार है। अरबों की कीमत के बड़े-बड़े आटोमैटिक प्लांट हैं, जिनमें अपने-अपने विषय के विशेषज्ञ अपना-अपना काम बखूबी देखते हैं। घर के लोग भी देखभाल करने में पूर्ण सजग व सावधान हैं। घाटे का कभी कोई काम नहीं है।

बम्बई नगर में तो सम्पत सेठ के कोठी-बंगले हैं ही, देश-विदेश के प्रमुख औद्योगिक नगरों में भी निजी भवन हैं। तीर्थों और पर्यटक-स्थलों पर भी बंगले बनवा रखे हैं।

यदि सम्पत सेठ चाहे तो चौबीसों घंटे फ्री रह सकता है और अपना पूरा समय धर्म-ध्यान में लगा सकता है। परंतु वह धर्म-ध्यान की ओर बिल्कुल ध्यान नहीं देता है। उसे तो परिग्रह संग्रह और उसके प्रदर्शन में ही आनन्द आता है।

सेठ अपने वैभव का प्रदर्शन करने के लिए वर्ष में एक-दो बार अपने गाँव भी अवश्य जाता और वहाँ के सामाजिक व धार्मिक कार्यों में अपना योगदान भी खूब देता। आज भी जगह-जगह उसके द्वारा दिये गये दान के पाटिये लगे देखे जा सकते हैं। जब तक धर्मेश के पिता रहे, तब तक तो सेठ केवल उनसे मिलने ही गाँव आता-जाता रहा; क्योंकि उनसे सेठ का व्यक्तिगत स्नेह था, घनिष्ठ मैत्री थी। इसी बीच धर्मेश से भी उसका मिलना-जुलना होता रहा।

हृदयाघात के रोगी होने पर भी सेठ अपने आगंतुक अतिथियों को अपना कारोबार, कोठी-बंगले तथा चारों ओर बिखरा वैभव घंटों घूम-घूमकर नीचे-ऊपर चढ़-उतरकर दिखाता है। बीच-बीच में बिना कारण ओ रामू ! ओ श्यामू !! की आवाजें लगा-लगाकर अपने अतिथियों को अपने चेतन परिग्रह का अहसास भी कराता रहता है।

वेचारे आगंतुक भी सेठ का मनोविज्ञान समझते हैं। अतः न चाहते हुए भी सच्ची-झूठी हाँ में हाँ मिलाते सेठ की मुस्कान में अपनी नकली मुस्कान मिलाते, जल्दी ही छुटकारा पाने के लिए कोई न कोई वहाना खोजते; पर सेठ की पकड़ जोंक से कम थोड़े ही थी, जो आसानी से छूट जाये।

सम्पत सेठ चाय-नाश्ता के वहाने रहा-सहा वैभव भी दिखाकर ही दम लेता। ऐसा करते सेठ शरीर से भले थक जाए, पर मन से कभी नहीं थकता; क्योंकि इसमें उसे आनन्द जो आता है।

सेठ जिसे अपना सौभाग्य समझे बैठा है, भाग्योदय माने बैठा है; वही उसके लिए दुर्भाग्य वनकर, क्रूर काल वनकर उसे कव धर दवोचेगा - इसकी उसे कल्पना भी नहीं है। उसे नहीं मालूम कि यह परिग्रहानन्दी रौद्रध्यान उसे किस नर्क के गर्त में धकेल देगा।

धर्मेश ने स्वयं भी सम्पत सेठ को एक-दो वार स्वाध्याय करने और प्रवचनों में सम्मिलित होने की प्रेरणा दी और मौके-मौके पर आश्रम में पधार कर लाभ लेने का भी आग्रह किया; पर सेठ का सबके लिए एक ही घिसा-पिटा उत्तर होता -

"भाई ! अभी तो हमें मरने तक की फुर्सत नहीं है, आप स्वाध्याय की वातें करते हो। ये सव काम तो फुर्सत के हैं। जितना वड़ा व्यापार, उतनी अधिक उलझनें। फिर आये दिन राज-काज के काम और सामाजिक संस्थाओं की देखभाल। इन सवसे समय वचे तव स्वाध्याय की सूझे न ?"

सेठ ने धर्मेश को भी यही उत्तर दिया। साथ में यह भी कहा -

"भाई ! आपका और हमारा तो पुराना परिचय है, [illegible] से ही हमारी दाँतकाटी रोटी रही है। हमारे लायक कोई काम-काज हो तो हमें अवश्य याद करना, हम अवश्य आयेंगे।"

धर्मेश ने भी उसी पुरानी वचपन की टोन में कहा - "सम्पत भाई ! आपका वही पुराना परिचय और प्रेम ही तो हमें [illegible] कारण आपसे वारम्वार यह कहने का विकल्प आता है; पर आप इस वात पर ध्यान ही नहीं देते।"

लगता है सेठ की होनहार ही खोटी है; अन्यथा ये दिन कोई ऐसी मोह-ममता में पड़े रहने और ऐसे बिना मतलब के काम करने के थोड़े ही हैं।

किसी की कोई मजबूरी हो; रोटी, कपड़ा और मकान की समस्या हो तो बात जुदी है; पर उसके साथ ऐसा कुछ भी तो नहीं है। उसके पास तो सात-सात पीढ़ियों तक की आजीविका का पक्का इन्तजाम है।

उसके पास करोड़ों का तो कैश-नगद रुपया होगा। बड़े-बड़े उद्योगों पर उसका एकाधिकार है। अरबों की कीमत के बड़े-बड़े आटोमैटिक प्लांट हैं, जिनमें अपने-अपने विषय के विशेषज्ञ अपना-अपना काम बखूबी देखते हैं। घर के लोग भी देखभाल करने में पूर्ण सजग व सावधान हैं। घाटे का कभी कोई काम नहीं है।

बम्बई नगर में तो सम्पत सेठ के कोठी-बंगले हैं ही, देश-विदेश के प्रमुख औद्योगिक नगरों में भी निजी भवन हैं। तीर्थों और पर्यटक-स्थलों पर भी बंगले बनवा रखे हैं।

यदि सम्पत सेठ चाहे तो चौबीसों घंटे फ्री रह सकता है और अपना पूरा समय धर्म-ध्यान में लगा सकता है। परंतु वह धर्म-ध्यान की ओर बिल्कुल ध्यान नहीं देता है। उसे तो परिग्रह संग्रह और उसके प्रदर्शन में ही आनन्द आता है।

सेठ अपने वैभव का प्रदर्शन करने के लिए वर्ष में एक-दो बार अपने गाँव भी अवश्य जाता और वहाँ के सामाजिक व धार्मिक कार्यों में अपना योगदान भी खूब देता। आज भी जगह-जगह उसके द्वारा दिये गये दान के पाटिये लगे देखे जा सकते हैं। जब तक धर्मेश के पिता रहे, तब तक तो सेठ केवल उनसे मिलने ही गाँव आता-जाता रहा; क्योंकि उनसे सेठ का व्यक्तिगत स्नेह था, घनिष्ठ मैत्री थी। इसी बीच धर्मेश से भी उसका मिलना-जुलना होता रहा।

हृदयाघात के रोगी होने पर भी सेठ अपने आगंतुक अतिथियों को अपना कारोबार, कोठी-बंगले तथा चारों ओर बिखरा वैभव घंटों घूम-घूमकर नीचे-ऊपर चढ़-उतरकर दिखाता है। बीच-बीच में बिना कारण ओ रामू ! ओ श्यामू !! की आवाजें लगा-लगाकर अपने अतिथियों को अपने चेतन परिग्रह का अहसास भी कराता रहता है।

बेचारे आगंतुक भी सेठ का मनोविज्ञान समझते हैं। अत: न चाहते हुए भी सच्ची-झूठी हाँ में हाँ मिलाते सेठ की मुस्कान में अपनी नकली मुस्कान मिलाते, जल्दी ही छुटकारा पाने के लिए कोई न कोई बहाना खोजते; पर सेठ की पकड़ जोंक से कम थोड़े ही थी, जो आसानी से छूट जायें।

सम्पत सेठ चाय-नाश्ता के बहाने रहा-सहा वैभव भी दिखाकर ही दम लेता। ऐसा करते सेठ शरीर से भले थक जाए, पर मन से कभी नहीं थकता; क्योंकि इसमें उसे आनन्द जो आता है।

सेठ जिसे अपना सौभाग्य समझे बैठा है, भाग्योदय माने बैठा है; वही उसके लिए दुर्भाग्य बनकर, क्रूर काल बनकर उसे कब धर दबोचेगा - इसकी उसे कल्पना भी नहीं है। उसे नहीं मालूम कि यह परिग्रहानन्दी रौद्रध्यान उसे किस नर्क के गर्त में धकेल देगा।

धर्मेश ने स्वयं भी सम्पत सेठ को एक-दो बार स्वाध्याय करने और प्रवचनों में सम्मिलित होने की प्रेरणा दी और मौके-मौके पर आश्रम में पधार कर लाभ लेने का भी आग्रह किया; पर सेठ का सबके लिए एक ही घिसा-पिटा उत्तर होता -

"भाई ! अभी तो हमें मरने तक की फुर्सत नहीं है, आप स्वाध्याय की बातें करते हो। ये सब काम तो फुर्सत के हैं। जितना बड़ा व्यापार, उतनी अधिक उलझनें। फिर आये दिन राज-काज के काम और सामाजिक संस्थाओं की देखभाल। इन सबसे समय बचे तब स्वाध्याय की सूझे न ?"

सेठ ने धर्मेश को भी यही उत्तर दिया। साथ में यह भी कहा -

"भाई ! आपका और हमारा तो पुराना परिचय है, आपके पिता से तो हमारी दाँतकाटी रोटी रही है। हमारे लायक कोई काम-काज हो तो आप हमें अवश्य याद करना, हम अवश्य आयेंगे।"

धर्मेश ने भी उसी पुरानी बचपन की टोन में कहा था - "सम्पत काका ! आपका वही पुराना परिचय और प्रेम ही तो हमें परेशान करता है और इन्हीं कारण आपसे बारम्बार यह कहने का विकल्प आता है; पर आप वात पर ध्यान ही नहीं देते।"

सेठ की बातों से धर्मेश उसके इस मनोविज्ञान को समझने लगा था कि इसे आदर-सम्मान चाहिए, आमंत्रण चाहिए। इसलिए जो उसको विशेष आयोजनों में आदरपूर्वक बुलाता है, वहाँ वह दौड़ा-दौड़ा चला जाता है। अत: उसने सोचा -

"क्यों न सेठ को किसी शिक्षण-शिविर के उद्घाटन में मुख्य-अतिथि बनाकर बुलाया जाये ? एकबार यहाँ आकर यहाँ का वातावरण देखेगा - प्रवचन सुनेगा तो संभव है सेठ को लगन लग जाये। एकबार रुचि जागृत हो गई तो फिर तो फुर्सत ही फुर्सत है। पर सेठ बिना विशेष आमंत्रण के नहीं आयेगा; अत: यथासमय आमंत्रण भेजना होगा।"

बड़ा सेठ, बड़ा विद्वान्, बड़ा नेता या बड़ा अभिनेता - कोई भी बड़ा नामधारी व्यक्ति हो, यदि वह तत्त्वज्ञान विहीन है तो उसे 'बड़प्पन' नाम की बीमारी हो ही जाती है। फिर वह छोटे विद्वानों को, छोटे साधुओं को, छोटे प्रवचनकारों को छूत की बीमारी समझकर उनकी उपेक्षा करने लगता है, उनसे दूर-दूर रहने लगता है, भले ही वे छोटे, उससे बुद्धिबल में, ज्ञान-वैराग में बढ़े-चढ़े ही क्यों न हों ?

ऐसे बड़े लोगों का सबसे बड़ा दुर्भाग्य यह होता है कि उनके तत्त्वज्ञान प्राप्त करने के अवसर दुर्लभ हो जाते हैं। ये बड़े लोग छोटे विद्वान् से तत्त्व की बात कैसे सुन सकते हैं ? भले ही स्वयं को उस विषय का काला अक्षर भैंस बराबर ही क्यों न हो ? उनका यह बनावटी 'बड़प्पन' उनके तत्त्वज्ञान में सबसे बड़ी बाधा बन जाता है।

जबतक कोई किसी बड़े कार्यक्रम में अतिथि-विशेष बनाकर इन बड़े लोगों को न बुलाये, तब तक वे वहाँ जा नहीं सकते, बड़े आदमी जो ठहरे ! बुलाये जाने पर पहुँच जाने के बाद भी वहाँ पूरे समय नहीं ठहरते। उन्हें लगता है, अधिक देर तक रुकने से कहीं छोटा न समझ लिया जाऊँ।

वे बड़े-छोटे विद्वान् की पहचान उनके आगमज्ञान या तत्त्वज्ञान से नहीं; बल्कि उनके सामाजिक प्रभाव से करते हैं, उनके अनुयायियों या प्रशंसकों की संख्या से करते हैं। अथवा कौन उन्हें कितना सम्मान दे सकता है, दिला सकता है ? ये हैं उनके विद्वानों को बड़ा मानने के मापदण्ड। पर ये सब तो

पुण्याधीन हैं। इनसे तत्त्वज्ञान का क्या संबंध ? यद्यपि तत्त्वज्ञान के प्रचार-प्रसार में सातिशय पुण्योदय का भी योगदान होता है, पर ऐसा तत्त्वज्ञान और पुण्योदय का मणिकांचन योग तो विरले विद्वानों के ही होता है। यह बात इन श्रीमन्तों की समझ में नहीं आ सकती। सम्पत सेठ भी उन्हीं श्रीमन्तों में से एक हैं।

धर्मेश ने सोचा - खैर! कुछ भी हो। कम से कम सम्पत सेठ को तो राह पर लाना ही होगा। पिताजी की पुरानी पीढ़ी में एक मात्र यही तो बचे हैं, जिनको हम बचपन में प्रेम से सम्पत काका कहा करते थे और सम्पत काका भी हमसे खूब प्यार किया करते थे। जब से वे गाँव छोड़कर बम्बई चले गये और वहाँ जाकर उद्योग-धंधों में उलझ गये तबसे उनका मिलना-जुलना भी सहज नहीं रहा। उन्हें भी 'बड़प्पन' की बीमारी हो गई। जो भी हो, एकबार सम्पत काका को बुलाना तो है ही।

यह विचार कर धर्मेश ने सम्पत सेठ को शिविर के उद्घाटन का आमंत्रण भिजवा ही दिया।

संयोग से धर्मेश भी तत्त्वज्ञान के सतत् अभ्यास से ज्ञानी तो हो ही गया था, उसका बाह्य व्यक्तित्व भी प्रभावशाली था। उसमें तत्त्वज्ञान के साथ पुण्य व पवित्रता का भी ऐसा सुमेल था कि उसकी वाणी का दूसरों पर अच्छा प्रभाव पड़ता था। धीरे-धीरे उसके प्रशंसकों एवं अनुयायियों की संख्या भी बढ़ने लगी और उसका नाम व यश हवा में गंध की तरह चारों ओर फैलने लगा।

धर्मेश की गिनती भी बड़े विद्वानों में होने लगी थी। बाल-ब्रह्मचारी एवं आश्रमवासी होने से सामान्य जन तो धर्मेश को संत ही समझते थे।

अध्यात्म विद्या का लाभ मिलने से निकट सम्पर्क में रहने वाले प्रायः सभी लोग उसे आदर भाव से 'गुरुदेव' कहने लगे थे। जिससे तत्त्वज्ञान का लाभ मिलता हो, उसे गुरुदेव कहना कोई अनुचित भी नहीं था। अतः उसने भी प्रतिकार नहीं किया।

'गुरुदेव' के नाम से विख्यात धर्मेश के आश्रम में बड़े-बड़े सेठ व बड़े विद्वान् भी बे-झिझक आने-जाने लगे थे।

इस समय धर्मेश अध्यात्म गगन में उगता सूर्य साबित हो रहा था और उगते सूर्य को नमस्कार करने की परम्परा बहुत पुरानी है। यही वजह थी कि धीरे-धीरे बड़े-बड़े लोग भी धर्मेश के द्वारा प्रतिपादित तत्त्वज्ञान का लाभ लेने के लिए भारी संख्या में वहाँ पहुँचने लगे। सम्पत सेठ से भी धर्मेश का यशस्वी व्यक्तित्व अनजाना नहीं रहा। अतः उसने भी यथासमय शिविर के उद्घाटन करने की स्वीकृति सहर्ष भिजवा दी थी।

शिविर का उद्घाटन समारोह प्रारंभ हुआ। सम्पत सेठ मुख्यअतिथि के पद पर आसीन थे। शिक्षण-शिविरों की आवश्यकता एवं उपयोगिता विषय पर धर्मेश का हृदयस्पर्शी मार्मिक भाषण हुआ, जिसे सुनकर सभी गद्गद् थे।

भाषण में धर्मेश ने कहा - "देखो भाई ! यह बात विचारणीय है कि जब कोई व्यक्ति दो-चार दिन की यात्रा पर घर से बाहर जाता है तो वह नाश्ता-पानी और पहनने-ओढ़ने के कपड़ों की व्यवस्था करके तो जाता ही है। कब कहाँ ठहरना है, वहाँ क्या व्यवस्था होगी ? इसका भी पहले से ही पूरा सुनियोजन करता है और करना भी चाहिए। अन्यथा जो परेशानियाँ होतीं हैं, उनसे कोई अनजान नहीं है।

जब ट्रेन में एक रात बिताने के लिए महीनों पहले से रिजर्वेशन कराये जाते हैं, सौ-सौ रुपये अतिरिक्त देने पड़ें तो वे भी देते हैं, हजार-हजार रुपया रोज के होटलों में महीनों पहले कमरे बुक कराते हैं; तो हमारी समझ में यह बात क्यों नहीं आती कि **इस जन्म से अगले जन्मों की अनन्तकालीन लम्बी यात्रा करने के लिए भी कहीं/कोई रिजर्वेशन की जरूरत होती है ? जिसका रिजर्वेशन इस धूल-मिट्टी के धन से नहीं, बल्कि धर्म के धन से होता है।**

अरे भाई ! साठ-सत्तर साल के इस मानवजीवन को सुखी बनाने के लिए जब हमें दिन-रात के २४ घंटे भी कम पड़ते हैं तो उसकी तुलना में अनन्त काल के भावी जीवन की लम्बी यात्रा के बारे में हम क्यों नहीं सोचते कि उसको सुखमय बनाने के लिए हम क्या कर रहे हैं ? और जो भी धर्म के नाम पर कर रहे हैं, क्या वह पर्याप्त है ? क्या वह सही है ? इसका भी लेखा-जोखा कभी किया है आपने ?

भविष्य को सुखमय बनाने की बात तो बहुत दूर की है, अभी तो वर्तमान के सुखाभास के चक्कर में ही हम आर्त-रौद्रध्यान करके अपने भविष्य को अंधकूप में धकेलने का ही काम कर रहे हैं।"

धर्मेश ने अपने भाषण में मानव-जन्म की दुर्लभता पर प्रकाश डालते हुए इस दुर्लभ मानव जीवन एवं सवप्रकार के अनुकूल संयोगों का आत्मकल्याण में सदुपयोग करने की प्रेरणा कुछ इस ढंग से दी कि सभी को यह अनुभव होने लगा कि **सचमुच अपने शेष जीवन का एक क्षण भी अब राग-द्वेष में, विषय-कषाय में एवं इन्द्रिय के भोगों में खोना मानो अनन्त काल के लिए अनन्त दुःखों को आमंत्रण देना है। नरक-निगोद में जाकर असीमित दुःखों के गर्त में गिरना है।**

धर्मेश ने अपने भाषण में कहा - "धन-धान्य, सोना-चाँदी, मकान आदि ये सब सांसारिक सुख तो अनन्तवार मिले, अत: ये सब तो सुलभ हैं; पर तत्त्वज्ञान अनादि काल से आज तक नहीं मिला, इस कारण अब भी इसकी प्राप्ति बहुत दुर्लभ है।

धन-कन-कंचन राज सुख, सबहिं सुलभ कर जान।
दुर्लभ है संसार में, एक जथारथ ज्ञान॥

अत: अव एक क्षण भी इन विषय-कषायों व राग-द्वेष में बर्बाद करना उचित नहीं है। और सुनो! व्यवहार धर्म भी हमने बहुत बार पालन किया। इतनी वार तो हम दिगम्बर मुनि वने कि यदि हम अपने उन पिच्छि-कमण्डलु के ढेर लगायें तो सुमेरु पर्वत वरावर ढेर होगा, फिर भी तत्त्वज्ञान से अछूते रह गये। अत: अकेले व्यवहार धर्म में ही अटके नहीं रहना है; बल्कि इसी जीवन में यथार्थ तत्त्वज्ञान प्राप्त करना है।

छहढ़ाला में भी कहा है -

यह मानुष पर्याय, सुकुल, सुनवो जिनवाणी -
इह विध गये न मिले, सुमणि ज्यों उदधि समानी।

देखो, यहाँ 'इह विध गये' पर विशेष बल है। इहविध माने धन कमाते-कमाते, धन का विविध भोगों के माध्यम से उपयोग करते-करते यदि जिन्दगी बीत जायेगी तो पुनः यह अवसर नहीं आयेगा; क्योंकि यह विषयानन्दी रौद्रध्यान है, जिसके फल में हमें नरकों में सागरों पर्यंत अनन्त दुःख भोगने होंगे।

जो धर्मशास्त्रों के स्वाध्याय को अपने जीवन का अभिन्न अंग बना लेते हैं, वे तत्त्वज्ञान के बल से धीरे-धीरे अपनी इच्छाओं को जीत लेते हैं; और विषयों की निःसारता को भली-भाँति समझ लेते हैं। इसकारण उनको विषयों की इच्छा व्यर्थ लगने लगती है। वे अपने पुण्योदय से प्राप्त न्यायोपात्त सामग्री में ही संतुष्ट रहते हैं। ऐसे जीव ही सचमुच धर्मात्मा हैं।"

धर्मेश ने आगे कहा - "अभी हमें धर्म से धन अधिक महत्वपूर्ण लगता है। अरे ! जिस धन के लिए हम ऐसे पागल हो रहे हैं, वह धन तो धर्मात्माओं के चरण चूमता हुआ चला आता है और धर्मात्मा उसकी ओर देखते तक नहीं हैं। क्या देखें उसे ? है क्या उसमें देखने लायक ? अतः अर्थशास्त्र के साथ-साथ यदि धर्मशास्त्र का भी गहन अध्ययन किया जाये तो निश्चित ही सन्मार्ग मिलना सुलभ हो सकता है।"

धर्मेश ने अपनी बात को आगे बढ़ाते हुए कहा - "जिन भावों में हम दिन-रात मग्न हैं, उन आर्त-रौद्रभावों का फल तिर्यंच और नरक गति है।"

धर्मेश ने अपने भाषण में यह बात आगम और युक्ति से सिद्ध करके बताई। उन्होंने कहा - "जो चक्रवर्ती चक्रवर्ती-पद में ही मरता है, वह नियम से नरक में ही जाता है। आर्त-रौद्रध्यान से मरने वालों को इनके फल में कैसी-कैसी गतियाँ प्राप्त हुईं, इसका विस्तृत विवरण देखना हो तो प्रथमानुयोग के पुराणों को पढ़ो, सब पता लग जायेगा।"

सम्पत सेठ ने ऐसी बातें तो कभी सुनी ही नहीं थीं। वह तो दिन-रात इसी विषयानन्दी रौद्रध्यान में ही डूबा रहता था। अतः धर्मेश के मुख से आर्त-रौद्रध्यान संबंधी बातें सुनकर सेठ का रोम-रोम सिहर उठा, उसकी रूह काँप गई।

सेठ को विचार आया कि "मैं तो दिन-रात इन्हीं भावों में डूबा हूँ। अरे ! इतना भयंकर है इस रौद्रध्यान का फल ?"

धर्मेश का भाषण चालू था, उन्होंने आगे कहा - "बहुत से लोगों को तो यह भी पता नहीं होगा कि **ये नरक निगोद क्या बला है? अरे भाई ! ये दोनों दुर्गतियाँ हैं जहाँ हमें हमारे पापाचरण का भयंकर फल प्राप्त होता है, अत्यन्त दुःखद स्थिति में सागरों पर्यन्त रहना पड़ता है। यदि उन्हें यह पता होता तो वे लोग व्यर्थ ही इस आर्त-रौद्रध्यान के चक्कर में नहीं पड़ते, जिसके फल में ये कुगतियाँ मिलती हैं। इसकी विशेष जानकारी के लिए छहढाला की प्रथम ढाल पढ़ना चाहिए।"**

छहढाला की प्रथम ढाल के आधार पर नरकों के विविध दुःखों का चित्रण करते हुए धर्मेश ने बताया कि - "जो लोग परिग्रह में मग्न रहकर, पाँचों इन्द्रियों के विषयों में सुख मानकर, उन्हीं के संग्रह और भोग-उपभोग में अपना अमूल्य समय बर्बाद करते रहते हैं; वे लोग नियम से इन नरकों में जाते हैं, जहाँ भूख-प्यास, सर्दी-गर्मी और परस्पर कलह आदि के अनगिनत असह्य दुःख भोगते हैं।"

धर्मेश ने रौद्रध्यान के फल में प्राप्त होने वाले नरकों के दुःखों का वर्णन करते हुए छहढाला की कतिपय पंक्तियाँ गा-गाकर सुनाईं, जो इसप्रकार हैं -

तीनलोक कौ नाज जु खाय, मिटे न भूख कणा न लहाय।
सिन्धु नीर तें प्यास न जाय, तो पण एक न बूँद लहाय॥
मेरु समान लोह गल जाय, ऐसी शीत उष्णता थाय।
जहाँ भूमि परसत दुःख इसो, बिच्छु सहस डसै नहीं तिसो॥
जहाँ राध श्रोणित वाहनी, कृमि कुल कलित देह दाहनी।
तिल-तिल करें देह के खण्ड, असुर भिड़ावैं दुष्ट प्रचण्ड॥

धर्मेश के हृदयस्पर्शी भाषण को सभी श्रोता मंत्र-मुग्ध हो शान्ति से सुन रहे थे। इसी बीच एक नया श्रोता रंग में भंग करता हुआ **खड़ा होकर** जोर-जोर से बोलने लगा - "किसने देखे हैं नरक ? यदि **नरक हुए**

धर्मेश ने शान्तभाव से कहा - "तो क्या ? नरक न भी हुये तो भी सदाचारी और अहिंसक रहने में तो लाभ ही लाभ है, हानि क्या है ? हम तो स्वस्थ और प्रसन्न रहेंगे ही, दूसरे प्राणी भी निर्भय होकर जी सकेंगे।

वैसे चाहते तो हम भी यही थे कि - ऐसी सुन्दर सृष्टि में ऐसा पीड़ादायक-नरक जैसा दु:खद स्थान होता ही नहीं तो ही ठीक था; परन्तु हमारे-तुम्हारे चाहने और सोचने से कुछ नहीं होता। विश्व की व्यवस्था तो उसकी प्रकृति के अनुकूल होती ही है।

तुम थोड़ी देर को कल्पना करके तो सोचो - काश! नरक -निगोद हुये तो उन दुराचारियों का क्या होगा, जिन्होंने पापाचार से मुँह नहीं मोड़ा। जो दिन-रात हिंसा में लिप्त रहते हैं।

दूसरी बात, भाई! जो देखा नहीं, वह है ही नहीं; यह मानना कहाँ तक उचित है ? देखा तो हमने अपने पितृकुल के पूर्वजों को भी नहीं है, फिर भी वे थे या नहीं ? यदि वे न होते तो हम कहाँ से/कैसे होते ?

इसी तरह और भी अनेक युक्तियों और आगम से नरक-स्वर्ग की सत्ता सिद्ध होती है।

अरे भाई ! यदि कोई एक जीव की हत्या करता है तो उसका फल एक बार फाँसी की सजा है; परन्तु जो रोजाना अपने स्वाद के लिए अनन्त जीवों की हिंसा करता हो, उसको अनन्त बार फाँसी जैसी सजा इस नरभव में तो मिलना संभव नहीं है। अत: कोई ऐसा स्थान अवश्य होना चाहिए कि जहाँ प्रति समय मरण-तुल्य दु:ख हो; बस उसी स्थान का नाम नरक है, जो कि रौद्रध्यान के फल में प्राप्त होता है। तत्त्वार्थसूत्र में लिखा भी है बहुत आरम्भ व वहुत परिग्रह के धारक को नरक आयु बंधती है और मायाचार करने वालों को तिर्यंच आयु का वंध होता है।

अभी अधिक क्या कहें ? यदि आप लोग पूरे पन्द्रह दिन ठहरोगे तो आपको यहाँ बड़े-वड़े विद्वानों के अनुभवों का पूरा-पूरा लाभ मिलेगा।

धंधा-व्यापार तो बारहों मास चलता ही रहता है। और फिर यह सब संयोग तो पुण्य के आधीन हैं, जिसके पास पैसा आता है छप्पर फाड़कर चला आता है और जिसके भाग्य में नहीं होता तो दिन-रात दुकान पर बैठे-बैठे मक्खियाँ भगाया करता है। *अतः पुण्य-पाप पर भी थोड़ा भरोसा करके समय अवश्य* निकालो। अधिक क्या कहें ?"

सेठ ने उद्घाटनकर्ता के पद से बोलते हुए हाथ जोड़कर विनम्र स्वर में कहा - "भाई धर्मेश का फरमाना बिल्कुल सही है। हम लोग व्यापारी अवश्य हैं, पर सचमुच *व्यापार करना भी अभी हमें नहीं आया।*

अब कुछ-कुछ यह समझ में आ रहा है कि असली व्यापार तो आप लोग कर रहे हो। हम लोग तो सचमुच बासा खा रहे हैं, पुराने पुण्य का फल भोग रहे हैं। नई कमाई तो अभी तक कुछ भी नहीं की है। वह काहे का व्यापार, जिसमें घाटा ही घाटा हो, पाप ही पाप हो ? सचमुच *आत्मकल्याण का व्यापार* ही असली व्यापार है। मैंने अबतक आप जैसे सत्पुरुषों के व्याख्यानों की उपेक्षा करके बहुत बड़ी भूल की है। मैं प्रयास करूँगा कि मैं आपके प्रवचनों का अधिक से अधिक लाभ लूँ।"

धर्मेश के मन में इस बात की प्रसन्नता हुई कि सेठ ने भाषण को ध्यान से सुना और कुछ-कुछ समझने का प्रयास भी किया।

धर्मेश को विचार आया - सेठ की पकड़ भी ठीक है, बुद्धि तो विलक्षण है ही। यदि होनहार भली होगी तो सेठ का तो कल्याण होगा ही। ये पंडित लोग जो सेठ के साथ में आये हैं, इनकी रुचि भी इस ओर मुड़ सकती है। फिर जो-जो इनके निकट सम्पर्क में होंगे, इनके प्रभाव में होंगे; उन्हें भी तत्त्व जानने की जिज्ञासा हो सकती है।

लगता है अभी तत्त्वप्रचार-प्रसार का काल पक रहा है। ऐसे ... भी जिनवाणी जन-जन तक पहुँच सके, उतना ही अच्छा है।

उद्घाटन का कार्यक्रम पूरा हुआ। अन्त में 'मैं ज्ञानानन्द ... राष्ट्रीय आत्मगीत के साथ सभा विसर्जित हुई।

१८

सम्पत सेठ धर्मेश के आश्रम में विशेष-अतिथि के रूप में मात्र एक दिन के लिए आये थे, दूसरे दिन का वापिसी टिकट भी साथ लाये थे। अधिक ठहरने का उनके पास समय ही कहाँ ? बड़े आदमी जो ठहरे।

बड़े आदमियों को कुछ तो वस्तुत: व्यस्तता रहती ही है; क्योंकि व्यापार-धंधे के सिवाय अनेक संस्थाएँ उनसे जुड़ जाती हैं, और गुड़ के आस-पास मक्खियों का भिन-भिनाना भी स्वाभाविक ही है, इस कारण कोई न कोई उन्हें घेरे ही रहता है।

अपना बड़प्पन दिखाने के लिए कभी-कभी उन्हें कृत्रिम व्यस्तता का प्रदर्शन भी जरूरी हो जाता है।

आरामी जीवन जीने की आदत पड़ जाने से घर के सिवाय बाहर लम्बे काल तक ठहरना भी उन्हें कष्टप्रद लगता है। हर जगह एयरकंडीशन, फ्रिज, डनलप के गद्दे, हवादार खुला बंगला, नौकर-चाकर आदि घर जैसी सुविधायें तो मिल नहीं सकतीं।

इन सबके बावजूद भी धर्मेश के एक घण्टे के भाषण से ही वे इतने अधिक प्रभावित हुए कि उन्होंने समस्त आगामी कार्यक्रम निरस्त करके तथा अनुकूलताओं-प्रतिकूलताओं की परवाह न करके, जो भी सुविधाएँ संभव थीं, उन्हीं में संतोष करके पूरे पन्द्रह दिन रुककर प्रवचनों का लाभ लेने का निश्चय कर लिया।

सेठ साहब के साथ में आए उनके ही विद्यालय में कार्यरत पण्डित गुणधरलाल, विद्याभूषण, विवेक शास्त्री और बुद्धिप्रकाश को सेठजी के इस आकस्मिक परिवर्तन पर आश्चर्य हो रहा था। वे परस्पर बातें कर रहे थे।

पण्डित गुणधर ने कहा – "सेठजी को अचानक यह क्या हो गया ? इतना बड़ा परिवर्तन ! जो घर से केवल कौतूहलवश एक दिन को आये थे, जिन्हें ऐसे तात्विक प्रवचनों में कोई खास रुचि नहीं थी, वे केवल एक घंटे के प्रवचन से इतने अधिक प्रभावित हो गये हैं। ऐसा क्या जादू कर दिया सेठजी पर धर्मेशजी ने ?"

दूसरे वरिष्ठ विद्वान् विद्याभूषण बोले – "अरे भाई ! धर्मेश के प्रवचनों में तो जादुई असर है ही, व्यवहार भी मधुर है और स्वभाव भी मिलनसार है। देखो न ! छोटे से छोटे बालकों और बड़े से बड़े विद्वानों को कितने स्नेह और आदरपूर्वक बुलाते हैं, प्रेमालाप करते हैं। मानों करुणा और स्नेह की साक्षात् मूर्ति हों। प्रवचनों के बीच-बीच में श्रोताओं का नामोल्लेख करके सजग तो करते ही हैं, उन्हें महत्त्व देकर उनमें अपनापन भी स्थापित कर लेते हैं। अध्ययन भी कितना गजब का है ? शास्त्राधार के बिना तो बात ही नहीं करते।"

विवेक शास्त्री सोचने लगा – सेठ तो भावुक है ही, यह पण्डित विद्याभूषण भी गया काम से। खैर !

विवेक शास्त्री ने साथियों से कहा – "अच्छा ठीक है, अब बातें बंद करो और जल्दी चलो। प्रवचन प्रारंभ हो गया है। लेट पहुँचेंगे तो ... । क्या तुम्हें पता नहीं कि सबकी निगाहें हम लोगों पर ही रहतीं हैं। सेठजी सहित सभी विद्वान ज्योंही प्रवचनमण्डप में पहुँचे तो धर्मेश ने उन्हें आदरपूर्वक आगे बुला लिया।

धर्मेश को सेठजी की धार्मिक अज्ञानता पर तरस तो आ ही रहा था; अपनी बात को आगे बढ़ाते हुये उन्होंने प्रवचन के बीच में ही करुणा के स्वर में कहा –

"सेठ साहब ! सत्तर-बहत्तर बसन्तें तो देख ही लीं होंगी ? मनुष्य की जिंदगी ही कितनी है ? अधिक से अधिक शतायु हुए तो बीस-पच्चीस वर्ष ही और मिलेंगे, भरोसा तो एक पल का भी नहीं है। मान लो दस-बीस वर्ष मिल भी गये तो वे भी 'अर्द्धमृतक सम बूढ़ापनो' में गुजरने वाले [illegible]

तत्त्वज्ञान के बिना ही हमारा यह जीवन चला गया तो फिर हमें अगला जन्म कहाँ/किस योनि में लेना पड़ेगा, इसका विचार हमें अवश्य करना चाहिए।

दिन-रात सोते-जागते, उठते-बैठते, खाते-पीते हमारे जो अधिकांश अप्रशस्तभाव रहा करते हैं, उनका क्या फल होगा ? इस बात पर कभी विचार ही नहीं किया हमने। यदि हम मरकर मच्छर बन गए तो हमारे बेटे ही हम पर डी.डी.टी. छिड़ककर मार डालेंगे। यदि अपने घर की ही खाट में खटमल हो गए तो हमारे बेटे-बहू ही केरोसीन छिड़ककर हमारी जान ले लेंगे। यदि कुत्ता-बिल्ली के पेट में चले गए तो नगरपालिकाओं द्वारा पकड़वाकर मरवा दिए जायेंगे। यदि गाय-भैंस-बैल आदि पशु हो गए तो क्या वहाँ रहने को एयरकंडीशन, मच्छरों से बचने को गुडनाइट, और सोने के लिए डनलप के गद्दे मिलेंगे ? अरे ! खाने को मालिक जैसी सड़े-गले भूसे की सानी (पशुओं का भोजन) बनाकर रख देगा, वही तो खानी पड़ेगी।

भगवान आदिनाथ पूजन की जयमाला को जरा ध्यान से पढ़कर तो देखो, वहाँ क्या लिखा है? -

ऊँट बलद भैंसा भयो, जापै लदियो भार अपार हो ।
नहि चाल्यो जठे गिर पर्यो, पापी दे सोटन की मार हो ।

यदि ऊँट, बैल, भैंसा, गधा, घोड़ा हो जायेंगे तो शक्ति से भी कई गुना अधिक भार लाद कर जोता जायेगा; चलते नहीं बनेगा तो कोड़े पड़ेंगे, लातों-घूंसों से मार पड़ेगी; नाक छेदी जाएगी, चौबीसों घंटे बांधकर रखा जाएगा। और क्या-क्या होगा ? जरा कल्पना करके तो देखें! जेठ माह की गर्मी, माघ माह की शीत और मूसलाधार बरसात में भूखे-प्यासे खुले आकाश में खड़े रहना पड़ेगा। सब कुछ चुपचाप सहना होगा। कहने-सुनने लायक जबान भी नहीं मिलेगी।''

धर्मेश ने विषय को विस्तार देते हुये आगे कहा -

''यदि एकेन्द्रिय-दोइन्द्रिय, तीन इन्द्रिय हो गये तब तो दुःखों का कहना ही क्या है ? रोंदे जायेंगे, पैले जायेंगे, गंदी नालियों में पड़े-पड़े बिल-बिलायेंगे, आग में जला दिए जायेंगे।

मछली, मुर्गी, सूअर, बकरा, हिरण जैसे दीन-हीन पशु हो गये तो मांसाहारियों द्वारा जिन्दा जलाकर भूनकर, काट-पीट कर खाया जायेगा।

यदि हम चारों गतियों के अनन्तकाल तक ऐसे अनन्त दुःख नहीं सहना चाहते हैं तो अपने वर्तमान परिणामों की परीक्षा कर लें और शास्त्रों में लिखे उन परिणामों के फल पर विचार कर लें। और सोच लें कि अब हमें अपने शेष जीवन का किस तरह सदुपयोग करना है ?

यह समाज की झूठी-सच्ची नेतागिरी, यह न्याय-अन्याय से कमाया धन, ये स्वार्थ के सगे कुटुम्ब परिवार के लोग कहाँ तक साथ देंगे ? क्या सम्राट सिकन्दर के बारे में नहीं सुना ? उसने अनेक देशों को लूट-खसोटकर अरबों की सम्पत्ति अपने कब्जे में कर ली थी। अन्त में जब उसे पता चला कि मौत का पैगाम आ गया है, तब उसे अपने किए पापों से आत्मग्लानि हुई।

वह सोचने लगा - अरे ! मैंने यह क्या किया ? तब उसने स्वयं कहा कि 'मेरी सम्पत्ति मेरे जनाजे के साथ ले जाना और मेरे मुर्दे के दोनों हाथ बाहर निकाल देना, ताकि जगत मेरे जनाजे से कुछ सबक सीख सके। यही हुआ।

उसकी अन्तिम इच्छा के अनुसार संसार की असारता और लूट-खसोंट के दुःखद नतीजों का ज्ञान कराने के उद्देश्य से उसकी शवयात्रा के साथ सारा लूट का माल जुलूस के रूप में पीछे लगा दिया गया। और उसके दोनों खाली हाथ अर्थी के बाहर निकाल दिये गये।

एक फकीर साथ-साथ गाता जा रहा था -

सिकन्दर बादशाह जाता, सभी हाली मवाली हैं ।
सभी है साथ में दौलत, मगर दो हाथ खाली हैं ॥''

धर्मेश का प्रवचन सुन कर तो सेठ साहब गद्‌गद् ही हो गए। सेठ ही क्या, उस समय तो सभी की आँखें गीली हो गईं। लोग रूमाल निकाल-निकाल कर अपनी आँखें पोंछने लगे।

पण्डित विवेक शास्त्री अपने साथियों से कहने लगे - "अरे भैया ! धर्मेश की वाणी में दम तो है, उनका प्रवचन तो लोगों को पानी-पानी कर देता है। तभी तो लोग कहते हैं कि जो वहाँ एक बार पहुँच जाता है, वहीं का होकर रह जाता है। खैर! जो कुछ हुआ, वह तो सब ठीक है; पर अब आपका क्या विचार है ? आपको वापिस घर चलना है या आप भी सेठजी के साथ साधु बनने की सोच रहे हैं ? सेठ तो भावुक है ही, तुम्हारा क्या इरादा है ?"

विद्याभूषण ने कहा - "भाई मैं भी रुकूँगा। मेरे घर पर कौन से छोटे-छोटे बच्चे रो रहे हैं ? सब अपने-अपने पैरों पर खड़े हो गये हैं, अपने को क्या ? और मैं तो कहूँगा कि तुम भी रुको। तुम्हारे यहाँ भी तुम्हारी प्रतीक्षा करने वाला कौन है ? न बीबी, न बच्चे। अकेले राम रह गये हो। समझ में नहीं आता किस मायाजाल में फँसे हो ?"

प्रत्युत्तर में विवेक शास्त्री ने कहा - "तुम कहते तो ठीक ही हो; पर एक बार फिर सोच लो ! लोग क्या कहेंगे ? इतने बड़े पंडित ! क्या इन्हें उस अनपढ़ धर्मेश के बराबर भी ज्ञान नहीं है जो वहाँ उसे सुनने रुक गये और लोग यह भी तो कह सकते हैं कि जो बातें धर्मेश बता रहा है, यदि वे बातें सही हैं तो इन विद्वानों ने हमें पहले क्यों नहीं बताईं ?

इस तरह तो अपनी भारी बेइज्जती होगी। अतः अपन को तो इसके विरुद्ध कोई ऐसी योजना बनानी होगी, जिससे कम से कम हम अपनी प्रतिष्ठा तो कायम रख सकें।"

ऐसे ऊहापोह में गुणधर और विवेक शास्त्री तो अपनी झूठी प्रतिष्ठा के खातिर शिविर के अधबीच में ही वापिस घर चले गये; पर विद्याभूषण और बुद्धिप्रकाश का हृदय परिवर्तित हो गया था, अतः वे सम्पत सेठ के साथ शिविर में पूरे पन्द्रह दिन तो रुके ही, शिविर के बाद भी एक माह रुककर तत्त्वज्ञान का भरपूर लाभ लिया। •

११

पिछली कुछ दशाब्दियों से धर्म की साधना केवल पूजा-पाठ, विधि-विधान, व्रत-उपवास, जप-तप तक ही सीमित हो गयी थी। स्वाध्याय में केवल कथा-पुराण पढ़ने का ही रिवाज रह गया था। बहुत हुआ तो त्यागी-व्रती व पण्डित वर्ग करणानुयोग के गुणस्थान, मार्गणास्थान आदि की मोटी-मोटी चर्चा करके अपने में संतुष्ट हो लेते थे। एक तरह से अध्यात्म की धारा अवरुद्ध ही हो गई थी। इस कारण धर्म-ध्यान की सीमायें पुण्य-पाप की धूप-छाँव तक ही सीमित होकर रह गई थीं, वीतराग के धर्मधाम तक पहुँच ही नहीं पाई।

धर्म की यह स्थिति देख धर्मेश को विचार आया कि - "लौकिक बातें बताने को तो लौकिकजन ही बहुत हैं। धर्मपुरुषों से तो विशुद्ध धर्मोपदेश और तत्त्व की चर्चा ही अपेक्षित है। अन्यथा और कौन करेगा यह अध्यात्म की चर्चा ?, जिससे जैनधर्म जीवित है, जो जैनदर्शन का प्राण है।

दया-दान, खान-पान, पूजा-पाठ आदि तो सभी दर्शनों में लगभग समान ही हैं। जैनधर्म की यदि कोई विशेषता है और जिस कारण वह अन्य दर्शनों से भिन्न है, वह तो एकमात्र अध्यात्म ही है। अत: इसकी चर्चा तो हर हालत में होना ही चाहिए।"

धर्मेश ने यह महसूस किया और देखा कि अभी अध्यात्म का क्षेत्र पूरी तरह खाली पड़ा है। अत: उसने इस रिक्तता को भरने का मन ही मन संकल्प कर लिया।

धर्मेश का यह सोच एवं संकल्प सही समय पर सही निर्णय साबित हुआ। लोग पिपासु थे। धर्मामृत पान कर वे प्रसन्न हुए, संतुष्ट भी हुए। लोगों में तत्त्वज्ञान के प्रति जिज्ञासा जगी और दिन-प्रतिदिन सब ओर से लोग धर्मेश के पास पहुँचने लगे।

उसने सोचा - जिस दर्शन में समयसार, प्रवचनसार जैसे वस्तुस्वरूप के निरूपक; सर्वज्ञता, अकर्त्तृत्ववाद और वस्तुस्वातंत्र्य को सिद्ध एवं प्रसिद्ध करने वाले ग्रन्थराज हों और मोक्षमार्गप्रकाशक जैसा सन्मार्ग-दर्शक प्रकाश-स्तम्भ हो, वहाँ यह आध्यात्मिक दृष्टिहीनता का अंधकार क्यों ? समझ में नहीं आता अध्यात्म की इस उर्वरा भूमि पर यह आध्यात्मिक दरिद्रता क्यों ?

आध्यात्मिक वातावरण की कमी का एकमात्र कारण अरुचि एवं अपरिचय ही है। इस दिशा में प्रयत्न किया जाये तो आशातीत लाभ हो सकता है।

यह सोचकर धर्मेश ने नियमित प्रवचन और कक्षायें प्रारम्भ कर दीं। धीरे-धीरे अध्यात्म की गंध चारों ओर फैलती ही चली गई।

थोड़े ही दिनों में धर्मेश बहुचर्चित हो गया। उसके बारे में अनेकों लोग अनेक प्रकार से बातें करने लगे।

एक ने कहा - "धर्मेश की वाणी में न जाने ऐसा क्या जादू है ? उसके प्रवचनों में सब शान्तभाव से बैठे-बैठे मन ही मन ऐसे प्रसन्न होते हैं, मानो वे आनन्द-सागर में डुबकियाँ लगा रहे हों।"

दूसरे ने कहा - "हाँ भाई ! देखो न ! चाहे वह श्रीमंत सेठ हो, बड़े से बड़ा विद्वान् हो, लोकमान्य राजनेता हो, सर्वोच्च शिक्षा-शास्त्री हो, प्रतिभासम्पन्न साहित्यकार, कवि अथवा लेखक हो, जिलाधीश, न्यायाधीश, वक्ता, अधिवक्ता कोई भी क्यों न हो ? सभी उसके व्यक्तित्व और वाणी पर रीझ रहे हैं।

यद्यपि धर्मेश संस्कृत-प्राकृत नहीं जानता था, पर उसने सत्यान्वेषण में कोई कोर-कसर नहीं रखी। उसने जिनवाणी-रूपी ज्ञानगंगा में गहरे गोते लगाये।

यह छोटी-सी ज्ञानगोष्ठी इतने जल्दी इतना विशाल रूप धारण कर लेगी, धर्मेश को भी इसकी कल्पना नहीं थी।

निश्चित ही उस प्रचार-प्रसार के पीछे धर्मेश की हार्दिक लगन, व्यवस्थित मति, उदारवृत्ति, गुणग्राहकता, निश्छलहृदय, सरलस्वभाव, नियमित दैनिकचर्चा, सत्यान्वेषण की सूक्ष्मदृष्टि और प्राप्त तत्त्वज्ञान के प्रचार-प्रसार की निःस्वार्थ पवित्र व प्रबल भावना ही प्रमुख कारण हैं। इन्हीं कारणों से देश के कोने-कोने से धर्मप्रेमी एवं तत्त्वरसिक लोग उससे जुड़ते जा रहे हैं।" •

२०

टन... टनन... टन... टन... करते ज्योंही घड़ी का नवाँ घंटा बजा त्योंही ॐकार ध्वनि के साथ धर्मेश का प्रात:कालीन प्रवचन प्रारम्भ हो गया।

उन्होंने कहा - "विपरीत मिथ्यात्व, एकांत मिथ्यात्व, विनय मिथ्यात्व, संशय मिथ्यात्व और अज्ञान मिथ्यात्व के वशीभूत होकर हमने ऐसे-ऐसे घोर पाप किए हैं, जिनका वर्णन इस वाणी से नहीं किया जा सकता। जैसा कि आलोचना पाठ में पहले विस्तार से कह ही आयें है।"

विपरीत मिथ्यात्व के रूप में हो रही जीव की सबसे बड़ी भूल को धर्मेश ने उदाहरण देकर समझाया - "जैसे कोई व्यक्ति हीरा को तो पहचाने नहीं और काच को ही हीरा मानकर काच के बदले हीरे के दाम दे दे तो ठगाया ही जायेगा। उसी तरह कोई वीतराग-सर्वज्ञ देव को तो पहचाने नहीं और उनके स्थान पर रागी-द्वेषी-मोही देवगति के देवों को अथवा अन्य अदेवों को देव मानकर भगवान की तरह पूजने-मानने लगे तो वीतरागतारूप हीरा तो उसके हाथ लगेगा नहीं, मोक्षरूपी रत्नत्रय का व्यापार तो होगा नहीं; राग-द्वेष-मोह के झमेले में ही उलझ जायेगा।

जो स्वयं दु:खी हैं, वे हमें सुखी कैसे करेंगे ? इस तरह वीतरागीदेव से विपरीत रागी-द्वेषी देवगति के देवों को व अन्य अदेवों को मानने-पूजने वाला विपरीत मिथ्यादृष्टि है।

इसीतरह ज्ञानानंदस्वभावी, अनादिअनंत, अखंडअनंत, चिन्मात्र ज्योतिस्वरूप आत्मा के स्वरूप को तो जाने-पहचाने नहीं और इसके विपरीत जड़ देह व चेतन जीव को एक मानकर अथवा जड़ देह को ही चेतन जीव मानकर जीव को ज्ञानानंद स्वभाव के विपरीत सुखी-दु:खी, नाशवान, रागी-द्वेषी-मोही मान ले तो वह विपरीत मिथ्यादृष्टि है; क्योंकि उसने आत्मा के स्वरूप को यथार्थ न जानकर जीवतत्त्व की विपरीत श्रद्धा की।

इसीप्रकार जो अजीवतत्त्व को अजीव न मानकर शरीर की उत्पत्ति में अपनी आत्मा की उत्पत्ति, शरीर के नाश में आत्मा का नाश मानकर विपरीत श्रद्धा करते हैं; आस्रव एवं बंध तत्त्व जो आत्मा के विकार हैं, दुःखदायी हैं, उनका सेवन करके आनन्द मानते हैं; संवर-निर्जरा जो सुखद व सुखस्वरूप हैं, उन्हें कष्टदायक मानते हैं; मोक्ष को कर्मबन्ध से मुक्ति के रूप में सिद्धस्वरूप न मानकर विभिन्न रूपों में आत्मा के स्वतंत्र अस्तित्व को समाप्त हुआ ही मानते हैं - वे विपरीत मिथ्यादृष्टि हैं।

इस प्रकार सात तत्त्वों के बारे में हुई विपरीत मान्यता विपरीत मिथ्यात्व है। छहढाला में कहा भी है -

ताको न जान विपरीत मान, करि करै देह में निज पिछान।

दूसरी भूल एकान्त मिथ्यात्व के रूप में होती है - इस मिथ्यात्व के वश में हुए जीव को अनेकान्तमय धर्म में दृढ़ आस्था उत्पन्न नहीं होती। लोक के समस्त पदार्थ या वस्तुयें अनंत धर्ममय हैं, अनंत गुणमय हैं, अनंत शक्तियों से सम्पन्न हैं। वस्तुओं में वस्तुत्वपने को निपजाने वाली - सिद्ध करने वाली परस्पर विरोधी शक्तियों को धर्म या अन्त कहते हैं। **अनेके अन्तः येषां ते अनेकान्तः**, इस सूत्र वाक्य के अनुसार जिन वस्तुओं में परस्पर विरोधी अनेक गुण, धर्म या शक्तियाँ होतीं हैं; उन सभी वस्तुओं का एक नाम अनेकान्त है। जो वस्तुओं के ऐसे अनेकान्त स्वरूप को न मानकर मात्र उनके किसी एक ही धर्म या स्वभाव को स्वीकार करते हैं, वे एकान्त मिथ्यादृष्टि हैं।

आत्मा अनादि-अनंत होने से नित्य भी है और प्रति समय परिणमन करने की अपेक्षा अनित्य या क्षणिक भी है; पर एकान्ततः या तो नित्य ही मानना या क्षणिक ही मानना तथा आत्मा की भाँति ही अन्य सब पदार्थों को भी एकांततः नित्य या अनित्य ही मानना एकान्त मिथ्यात्व है।

इसीप्रकार लोक की सभी वस्तुओं में अस्ति-नास्ति, एक-अनेक, भिन्न-अभिन्न, सत्-असत् आदि परस्पर विरोधी अनेक धर्म (स्वभाव) हैं। उन्हें नय सापेक्ष न मानकर सर्वथा अस्तिरूप या नास्तिरूप ही मानना। एकान्ततः एक रूप ही अथवा अनेक रूप ही मानना; जबकि आत्मवस्तु अभेद अखण्ड होने

से एक भी है और गुण भेद होने से अनेक भी है - पर एकान्त मिथ्यादृष्टि ऐसा नहीं मानता। बस यही उसका एकान्त मिथ्यात्व है। इसीतरह और भी समझना। जैसे - कोई 'पुरुषार्थ से ही कार्य होता है'- ऐसा पुरुषार्थ का एकान्त करके अन्य समवायों का सर्वथा निषेध करते हैं तो कोई भाग्य के भरोसे ही वैठकर पुरुषार्थ का निषेध करते हैं, जबकि कार्य के होने में सभी समवायों का अपना-अपना स्थान है। हाँ, कथन में कहीं कोई एक मुख्य होता है तो कहीं कोई दूसरा।

पंडित टोडरमलजी ने जैन एकान्तियों को तीन वर्गों में बाँटा है:- (१) निश्चयाभासी (२) व्यवहाराभासी (३) उभयाभासी।

कोऊ नय निश्चय से आत्मा को शुद्ध मान ,
भयो है सुछन्द न पिछाने निज शुद्धता।
कोऊ व्यवहार-दान-शील-तप भाव को ही ,
आत्मा को हित मान छांडत न मुद्धता॥
कोऊ नय निश्चय व व्यवहार के मारग को,
भिन्न-भिन्न पहचान करै निज उद्धता।
जब जाने निश्चय के भेद व्यवहार सब,
कारण है उपचार माने तब बुद्धता॥

तीसरी वड़ी भूल विनय मिथ्यात्व के रूप में होती है; क्योंकि 'विनय' पाप भी है, पुण्य भी है और धर्म भी है। मिथ्यात्व में 'विनय मिथ्यात्व' सबसे बड़ा पाप, सोलह कारण भावना में 'विनयसम्पन्नता भावना' सबसे बड़ा पुण्य तथा तपों में 'विनय नामक तप' सबसे बड़ा धर्म है। तीनों में नाम साम्य होने से भ्रमित होने के अवसर अधिक हैं; अत: इन्हें अच्छी तरह समझकर विनय मिथ्यात्व छोड़ने योग्य है।

रागी-द्वेषी एवं विषय-कषायों में रचे-पचे कुगुरु, कुदेव व कुधर्म को भी मानना-पूजना तथा वीतरागी देवों को भी मानना-पूजना; वीतरागी एवं रागी देवों एवं निर्ग्रन्थ व सग्रंथ गुरुओं को समान आदर देना - यह विनय मिथ्यात्व हैं। ऐसा करने से वीतरागी देव एवं निर्ग्रन्थ गुरु का अवर्णवाद तो

होता ही है, भोले जीवों को भ्रमित होने और सन्मार्ग से भटक जाने के अवसर बहुत बढ़ते जाते हैं। कुछ लोग इसे धार्मिक उदारता, हृदय की विशालता, सरलता आदि का जामा पहनाने का प्रयास करते हैं, जो ठीक नहीं है। किसी की निन्दा न करना, टीका-टिप्पणी न करना, विवादस्थ विषयों को न छेड़ना जुदी बात है और सबको एकसा आदर-सम्मान देना या पूज्यभाव रखना बिल्कुल जुदी बात है। उदारता के नाम पर दोनों को एक कोटि में नहीं रखा जा सकता। धर्म की श्रद्धा बिल्कुल व्यक्तिगत विषय है, इसमें सामाजिक व राष्ट्रीय एकता के सूत्र कतई बाधक नहीं हैं। अतः यहाँ सर्वाधिक विवेक की आवश्यकता है।"

संशय मिथ्यात्व का स्पष्टीकरण करने के लिए धर्मेश ने संशय मिथ्यादृष्टि के विचारों का सहारा लेकर समझाया। उन्होंने कहा - "संशय मिथ्यादृष्टि सोचता है कि इस कलिकाल में कोई प्रत्यक्ष जानने वाला सर्वज्ञ तो है नहीं; शास्त्रों के कथन परस्पर मिलते नहीं हैं; सर्व धर्मों के साधुजन भी एक मत नहीं हैं। जैनदर्शन में यदि सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र को मोक्षमार्ग कहा है, तो अन्य मतों में किसी ने मात्र ज्ञान को मुक्ति का मार्ग कहा है और किसी ने भक्ति को। सभी मतवाले भिन्न-भिन्न मार्ग बतलाते हैं। कुछ निश्चय ही नहीं हो सकता कि कौन सत्य है, कौन मिथ्या है ? इसलिए जिस धर्म के मार्ग पर हमारे पूर्वज चले आ रहे हैं वही ठीक है। तत्त्व से अनजान अज्ञानी का ऐसा अनिश्चय ही संशय मिथ्यात्व है।"

अज्ञान मिथ्यात्व की व्याख्या करते हुए धर्मेश ने समझाया - "हिताहित की परीक्षा रहित परिणाम ही अज्ञान मिथ्यात्व है। जिसके ऐसे विचार हों कि स्वर्ग-नरक एवं मोक्ष किसने देखा ? स्वर्ग के समाचार किसके पास आये ? पाप-पुण्य क्या चीज हैं ? ये कहाँ लगते हैं ? किससे चिपकते हैं ? अरे स्वर्ग-नरक सब कहने मात्र के हैं। धर्म भोले-भाले डरपोक लोगों को डराने-धमकाने व आतंकित करके उन्हें ठगने का धंधा है। सचमुच तो यहाँ ही सब स्वर्ग-नरक हैं। सुखी जीवन ही स्वर्ग है और दुःखी जीवन ही नरक।

पुण्य-पाप एवं धर्म-अधर्म से सर्वथा अनजान अज्ञानी मिथ्यादृष्टि जीव इस प्रकार की बातें करके सर्वज्ञ एवं सर्वज्ञ कथित तत्त्वों का ही निषेध करते

हैं तथा पाँचों पापों एवं पाँचों इन्द्रियों के विषयों में स्वच्छन्द प्रवृत्ति करते हैं। भक्ष्य-अभक्ष्य का कोई भान नहीं, नीति-अनीति का कुछ विवेक नहीं, देव-अदेव-कुदेव का कुछ भी निर्णय नहीं; ऐसा अनर्गल अभिप्राय ही अज्ञान मिथ्यात्व है।

ऐसी मान्यता वाले लोग कहा करते हैं कि 'जब जो होगा सो देखा जायेगा' सो, मन बहलाने के लिये उनका यह ख्याल अच्छा हो सकता है; परन्तु यह समस्या का सही समाधान नहीं है। यह तो समस्या को आगे धकेलना हुआ अथवा उस ओर से आँख मींचना हुआ। वस्तुतः तो समस्या को सामने रखकर उसका सही समाधान खोजना ही बुद्धिमानी है।

यह पाँचों प्रकार का मिथ्यात्व गृहीत भी होता है और अगृहीत भी। इसके वश घोर पाप होता है। अतः सर्वप्रथम आगम के अभ्यास से इसको अज्ञान मिथ्यात्व का समूल नाश करना होगा, तभी सन्मार्ग मिल सकेगा।

जो अन्तिम पाँचवें प्रकार के अज्ञान मिथ्यादृष्टि जीव पुण्य-पाप, पुनर्जन्म, आत्मा-परमात्मा और सर्वज्ञ की सत्ता में विश्वास नहीं करते; उन्हें इनके अस्तित्व का बोध कराने के लिए तो इतना कहना ही पर्याप्त होगा कि पुण्य-पाप, नरक-स्वर्ग किसी ने नहीं देखे तो अपने पूर्वजों को भी तो किसी ने नहीं देखा; वे थे या नहीं? जिन युक्तियों से इनको मानते हैं, वे ही युक्तियाँ स्वर्ग-नरक की प्रसिद्धि करती हैं।

जरा सोचिये - हम सब की शक्ल एक-सी नहीं है, अकल भी एक-सी नहीं है, आर्थिक और पारिवारिक परिस्थितियाँ भी एक-सी नहीं हैं। आखिर ऐसा क्यों? उत्तर होगा - सबके परिणाम एक से नहीं होते। पुण्य-पाप का बंध एक-सा नहीं होता। जिसने जैसे शुभ-अशुभ परिणाम किए, तदनुसार उसके पुण्य-पाप का बंध हुआ। उसके फलस्वरूप ही यह विविधता पाई जाती है। यदि ऐसा नहीं होता तो जन्म से ही कोई सुखी व कोई दुःखी क्यों है? यदि पुनर्जन्म नहीं होता तो जन्म से ही व्यक्ति प्रतिभावान नहीं हो सकता था। जिसे लोक में ईश्वरीय देन कहा जाता है, गॉड गिफ्ट कहा जाता है; वह वस्तुतः और कुछ नहीं, पूर्वजन्म के संस्कार ही हैं...

होता ही है, भोले जीवों को भ्रमित होने और सन्मार्ग से भटक जाने के अवसर बहुत बढ़ते जाते हैं। कुछ लोग इसे धार्मिक उदारता, हृदय की विशालता, सरलता आदि का जामा पहनाने का प्रयास करते हैं, जो ठीक नहीं है। किसी की निन्दा न करना, टीका-टिप्पणी न करना, विवादस्थ विषयों को न छेड़ना जुदी बात है और सबको एकसा आदर-सम्मान देना या पूज्यभाव रखना बिल्कुल जुदी बात है। उदारता के नाम पर दोनों को एक कोटि में नहीं रखा जा सकता। धर्म की श्रद्धा बिल्कुल व्यक्तिगत विषय है, इसमें सामाजिक व राष्ट्रीय एकता के सूत्र कतई बाधक नहीं हैं। अत: यहाँ सर्वाधिक विवेक की आवश्यकता है।"

संशय मिथ्यात्व का स्पष्टीकरण करने के लिए धर्मेश ने संशय मिथ्यादृष्टि के विचारों का सहारा लेकर समझाया। उन्होंने कहा - "संशय मिथ्यादृष्टि सोचता है कि इस कलिकाल में कोई प्रत्यक्ष जानने वाला सर्वज्ञ तो है नहीं; शास्त्रों के कथन परस्पर मिलते नहीं हैं; सर्व धर्मों के साधुजन भी एक मत नहीं हैं। जैनदर्शन में यदि सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र को मोक्षमार्ग कहा है, तो अन्य मतों में किसी ने मात्र ज्ञान को मुक्ति का मार्ग कहा है और किसी ने भक्ति को। सभी मतवाले भिन्न-भिन्न मार्ग बतलाते हैं। कुछ निश्चय ही नहीं सकता कि कौन सत्य है, कौन मिथ्या है ? इसलिए जिस धर्म के मार्ग पर हमारे पूर्वज चले आ रहे हैं वही ठीक है। तत्त्व से अनजान अज्ञानी का ऐसा अनिश्चय ही संशय मिथ्यात्व है।"

अज्ञान मिथ्यात्व की व्याख्या करते हुए धर्मेश ने समझाया - "हिताहित की परीक्षा रहित परिणाम ही अज्ञान मिथ्यात्व है। जिसके ऐसे विचार हों कि स्वर्ग-नरक एवं मोक्ष किसने देखा ? स्वर्ग के समाचार किसके पास आये ? पाप-पुण्य क्या चीज हैं ? ये कहाँ लगते हैं ? किससे चिपकते हैं ? अरे स्वर्ग-नरक सब कहने मात्र के हैं। धर्म भोले-भाले डरपोक लोगों को डराने-धमकाने व आतंकित करके उन्हें ठगने का धंधा है। सचमुच तो यहाँ ही सब स्वर्ग-नरक हैं। सुखी जीवन ही स्वर्ग है और दु:खी जीवन ही नरक।

पुण्य-पाप एवं धर्म-अधर्म से सर्वथा अनजान अज्ञानी मिथ्यादृष्टि जीव इस प्रकार की बातें करके सर्वज्ञ एवं सर्वज्ञ कथित तत्त्वों का ही निषेध करते

हैं तथा पाँचों पापों एवं पाँचों इन्द्रियों के विषयों में स्वच्छन्द प्रवृत्ति करते हैं। भक्ष्य-अभक्ष्य का कोई पता नहीं, नीति-अनीति का कुछ विवेक नहीं, देव-अदेव-कुदेव का कुछ भी निर्णय नहीं; ऐसा अज्ञानरूप अभिप्राय ही अज्ञान मिथ्यात्व है।

ऐसी मान्यता वाले लोग कहा करते हैं कि 'जब जो होगा सो देखा जायेगा।' सो मन बहलाने के लिये उनका यह ख्याल अच्छा हो सकता है; परंतु यह समस्या का सही समाधान नहीं है। यह तो समस्या को आगे धकेलना हुआ अथवा उस ओर से आँख मींचना हुआ। वस्तुत: तो समस्या को सामने रखकर उसका सही समाधान खोजना ही बुद्धिमानी है।

यह पाँचों प्रकार का मिथ्यात्व गृहीत भी होता है और अगृहीत भी। इसके वश घोर पाप होता है। अत: सर्वप्रथम आगम के अभ्यास से इसको अज्ञान मिथ्यात्व का समूल नाश करना होगा, तभी सन्मार्ग मिल सकेगा।

जो अन्तिम पाँचवें प्रकार के अज्ञान मिथ्यादृष्टि जीव पुण्य-पाप, पुनर्जन्म, आत्मा-परमात्मा और सर्वज्ञ की सत्ता में विश्वास नहीं करते; उन्हें इनके अस्तित्व का बोध कराने के लिए तो इतना कहना ही पर्याप्त होगा कि पुण्य-पाप, नरक-स्वर्ग किसी ने नहीं देखे तो अपने पूर्वजों को भी तो किसी ने नहीं देखा। वे थे या नहीं ? जिस युक्तियों से इनको मानते हैं, वे ही युक्तियाँ स्वर्ग-नरक की प्रसिद्धि करतीं हैं।

जरा सोचिये - हम सब की शकल एक-सी नहीं है, अकल भी एक-सी नहीं है, आर्थिक और पारिवारिक परिस्थितियाँ भी एक-सी नहीं हैं। आखिर ऐसा क्यों ? उत्तर होगा - सबके परिणाम एक से नहीं होते। पुण्य-पाप का बंध एक-सा नहीं होता। जिसने जैसे शुभ-अशुभ परिणाम किए तदनुसार उसके पुण्य-पाप का बंध हुआ। उसके फलस्वरूप ही यह विविधता पाई जाती है। यदि ऐसा नहीं होता तो जन्म से ही कोई सुखी व कोई दु:खी क्यों है ? यदि पुनर्जन्म नहीं होता तो जन्म से ही व्यक्ति प्रतिभावान नहीं हो सकता था। जिसे लोक में ईश्वरीय देन कहा जाता है, गॉड गिफ्ट है; वह सचमुच और कुछ नहीं, पूर्वजन्म के संस्कार ही हैं।"

धर्मेश ने आगे कहा – "देखो, भाई ! जैन होने के नाते इतना तो आप जानते ही होंगे कि जैनधर्म श्रद्धा एवं भावना प्रधान धर्म है। सम्यक् एवं मिथ्या श्रद्धा और शुभाशुभ भावों से ही धर्म–अधर्म एवं पुण्य–पाप होता है, बाह्य शारीरिक क्रियाओं से नहीं। पर बाहरी दैहिक क्रियायें भी अंतरंग भावों का ही अनुसरण करतीं हैं। यदि अन्दर आत्मा में क्रोध भाव है तो मुखाकृति पर भी क्रोध की रेखायें दिखाई देने लगतीं हैं, भृकुटी तन जाती है, आँखें लाल हो जातीं हैं, ओष्ठ फड़कने लगते हैं और काया काँपने लगती है।

पर ध्यान रहे, पापबन्ध अंतरंग आत्मा में हुए क्रोध भाव से ही होता है, बाह्य शारीरिक विकृति से नहीं। शारीरिक चिन्ह तो मात्र अंतरंग भावों की अभिव्यक्ति करते हैं, उनसे पाप–पुण्य नहीं होता।

इसी तरह जब अन्तरंग में जिनेन्द्र भगवान की भक्ति का शुभभाव होता है तो बाहर में तदनुकूल यथायोग्य अष्टांग नमस्कार, तीन प्रदक्षिणा आदि शारीरिक क्रियायें भी होतीं ही हैं।"

अंतरंग–बहिरंग व्याप्ति का ज्ञान कराते हुए धर्मेश ने अपने प्रवचन में कहा – "अन्तरंग में जिनके पूर्ण समताभाव हो, वीतराग परिणति हो तो बाहर में उनकी परमशान्त मुद्रा ही दिखाई देगी। न हँसमुख न उदास। ऐसा ही सहज संबंध होता है अन्तरंग–बहिरंग भावों का। इसे ही निमित्त–नैमित्तिक संबंध भी कहते हैं।

इसलिए कहा जाता है कि 'भावना भवनाशनी – भावना भववर्धनी' अर्थात् भावों से ही भव अर्थात् संसार में जन्म–मरण के दुःख का नाश होता है और भावों से ही जन्म–मरण का दुःख बढ़ता है।"

पाँचों प्रकार के मिथ्यात्व एवं शुभाशुभ भावों की सामान्य चर्चा के पश्चात् हिंसा–अहिंसा आदि की चर्चा करते हुए धर्मेश ने कहा – "पूर्ण पवित्र भावना से पूर्ण सावधानीपूर्वक डॉक्टर के द्वारा रोगी को बचाने के प्रयत्नों के बावजूद यदि आपरेशन की टेबल पर ही रोगी का प्राणांत हो जाता है तो डॉक्टर को दोषी नहीं माना जाता, हिंसाजनित पापबंध भी नहीं होता। वैसे ही चार हाथ

आगे जमीन देखते हुए चलने पर भी यदि पैर के नीचे कोई सूक्ष्म जीव मर जाता है तो मुनिराज को भी हिंसा का किंचित् दोष नहीं लगता।

आत्मा में रागादि भावों की उत्पत्ति होना ही हिंसा है तथा आत्मा में रागादि भावों की उत्पत्ति न होना ही अहिंसा है - यही जिनागम का सार है।

तात्पर्य यह है कि जैनदर्शन में पाप-पुण्य एवं धर्म-अधर्म जीवों के भावों एवं श्रद्धा पर निर्भर करता है। जिन कार्यों में जैसी श्रद्धा एवं भावनायें जुड़ीं होंगीं, कर्मफल उनके अनुसार ही प्राप्त होगा।

हिंसा-अहिंसा की भाँति झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह आदि पापों एवं धर्म-अधर्म के विषय में भी समझ लेना। आत्मा के घातक होने से झूठ-चोरी-कुशील व परिग्रह पाप भी हिंसा में ही गर्भित हैं। सब आत्मघाती होने से हिंसा के ही विविध रूप हैं; जो कि महादुःख दाता होने से सर्वथा त्याज्य हैं। परंतु पता नहीं फिर भी लोगों ने इन्हें खिलौना क्यों समझ रखा है ? शिकार जैसी संकल्पी हिंसा, कुशील जैसा अनर्थकारी पाप तथा जुआ और नशा जैसे दुर्व्यसनों को भी जिन लोगों ने मनोरंजन का साधन समझ रखा है; बलिहारी है उनकी इस बुद्धि को। सचमुच लोगों की बुद्धि पर पत्थर पड़े हुए हैं, आँखों पर अज्ञान की पट्टी बंधी हुई है। काश ...''

कहते-कहते धर्मेश का गला भर आया और वह चुप हो गया।

समय भी लगभग हो ही चुका था। जिनवाणी स्तुति के साथ सभा विसर्जित हुई। सभी लोग भावुक हृदय से अपने-अपने निवास की ओर जाते हुए मार्ग में प्रवचन के अंशों की चर्चा करते जा रहे थे।

एक ने कहा - ''यह मिथ्यात्व भी क्या वला है ? आत्मारूपी घर के कोनों में चूहों की तरह कहाँ-कहाँ छुपा रहता है और तत्त्वज्ञान के महत्वपूर्ण दस्तावेजों को, संयम और सदाचार के कीमती कपड़ों को कुतरता रहता है।''

दूसरा बोला - ''हाँ भाई ! देखो न ! विपरीत, एकान्त, विनय, संशय और अज्ञान मिथ्यात्व धर्म का भेष धारणकर जीव के साथ धोखा-धड़ी करने से

भी तो नहीं चूकते। चालाक भी कितने हैं! अच्छे-अच्छे पंडितों को भी चक्कर में डालकर परस्पर लड़ा-भिड़ा देते हैं। पार्टीबन्दी खड़ी कर देते है और सबका नेतृत्व करने लगते हैं।"

तीसरा बोला - "इसलिए तो गुरुदेव धर्मेशजी ने सावधान किया है कि इन मिथ्यात्व भावों से सावधान रहो और इनकी चालों को समझने की कोशिश करो। अन्यथा ये पुनः निगोद की हवा खिलाये बिना नहीं मानेंगे - जहाँ जीवों को जड़वत् होकर अनन्त काल तक रहना पड़ेगा।"

चौथे ने कहा - "यदि आपने ध्यान से सुनां हो तो गुरुदेव ने एक दिन अपने प्रवचन में मिथ्यात्व पर टिप्पणी करते हुए लाटी संहिता का एक श्लोक सुनाया था। जिसका भावार्थ यह है कि - मिथ्यात्व सहित जीवन जीने से तो सर्प के मुख में प्रवेश करना अच्छा है, विषभक्षण कर लेना अच्छा है, दावाग्नि में भस्म हो जाना या पानी में डूबकर मर जाना अच्छा है; पर मिथ्यात्व सहित जीवन जीना किसी भी हालत में अच्छा नहीं है; क्योंकि इन सबके कारण तो एक भव ही नष्ट होता है, पर मिथ्यात्व के कारण तो भव-भव में दुःख भोगने पड़ते हैं।

यह सब पापों की जड़ है, पापरूपी वृक्ष का बीज है, नरकरूपी घर का प्रवेश द्वार है, स्वर्ग-मोक्ष का शत्रु है।[१]

अतः हे भव्य जनो ! तुम इसको दूर से नमस्कार कर लो। इसे अपने पास न फटकने दो।"

चौथे व्यक्ति के मुख से गुरुदेव का यह संदेश सुनकर सुनकर सभी श्रोताओं ने संकल्प किया कि सबसे पहले इस मिथ्यात्व को ही जड़मूल से उखाड़ने का प्रयत्न करेंगे, तभी हमारा सारा श्रम सार्थक होगा। •

---

१. वरं सर्प मुखं वासो, वरं च विषभक्षणम् ।
अचलाग्नि जले पातो, मिथ्यात्वे च जीवितम् ॥
सकल दुरित मूलं, पाप वृक्षस्य बीजम् ।
नरक गृह प्रवेश स्वर्ग मोक्षैक शत्रुम् ॥

२१

धर्मेश अपनी नियमित चर्या के अनुसार सायंकालीन भोजन के बाद अपने साथी और शिष्यों के साथ पर्यटन को जा रहा था कि रास्ते में उसे एक दिन एक घर के अंदर से सुमधुर स्वर में एक आध्यात्मिक भजन सुनाई दिया। धर्मेश का ध्यान उस भजन के बोलों पर अटक गया और वह उस भजन को कान देकर सुनने लगा। भजन के बोल थे -

परिणति सब जीवन की, तीन भाँति वरनी ।
एक पुण्य एक पाप, एक राग हरनी ॥
तामें शुभ-अशुभ अन्ध, दोय करे कर्मबन्ध ।
वीतराग परिणति ही, भव समुद्र तरनी ॥ परिणति ०

एक साथी ने पूछ लिया - "धर्मेश जी ! आप चलते-चलते रुक क्यों गये ? क्या बात है ऐसी इस संगीत में ?"

धर्मेश ने कहा - "संगीत में तो कोई खास बात नहीं है; पर भजन का प्रत्येक बोल विचारणीय है। देखो न ! क्या-कहा ? यदि भवसमुद्र से पार होना हो तो वीतराग परिणतिरूपी तरणी (नौका) ही हमें इस संसार-सागर से पार उतार सकती है। अत: हमें शुभाशुभ भावों से मैली अपनी परिणति को त्याग कर जैसे बने वैसे - मौत की कीमत पर भी अपने में वीतराग परिणति पैदा करने का पुरुषार्थ जगाना होगा।

अपनी इस मिथ्यात्व से मैली, कषाय से कलुषित तथा राग से रंजित परिणति की हमें कुछ भी खबर नहीं है। सब 'अपनी-अपनी ढपली व अपने-अपने राग' अलापने में मस्त हैं, मदोन्मत्त हैं। किसी को भी यह परवाह नहीं है कि यदि इसी परिणति में हमारा मरण हो गया तो हम मर कर कहाँ जायेंगे ? क्या गति होगी हमारी ?

भी तो नहीं चूकते। चालाक भी कितने हैं! अच्छे-अच्छे पंडितों को भी चक्कर में डालकर परस्पर लड़ा-भिड़ा देते हैं। पार्टीबन्दी खड़ी कर देते है और सबका नेतृत्व करने लगते हैं।''

तीसरा बोला - ''इसलिए तो गुरुदेव धर्मेशजी ने सावधान किया है कि इन मिथ्यात्व भावों से सावधान रहो और इनकी चालों को समझने की कोशिश करो। अन्यथा ये पुनः निगोद की हवा खिलाये बिना नहीं मानेंगे - जहाँ जीवों को जड़वत् होकर अनन्त काल तक रहना पड़ेगा।''

चौथे ने कहा - ''यदि आपने ध्यान से सुनां हो तो गुरुदेव ने एक दिन अपने प्रवचन में मिथ्यात्व पर टिप्पणी करते हुए लाटी संहिता का एक श्लोक सुनाया था। जिसका भावार्थ यह है कि - मिथ्यात्व सहित जीवन जीने से तो सर्प के मुख में प्रवेश करना अच्छा है, विषभक्षण कर लेना अच्छा है, दावाग्नि में भस्म हो जाना या पानी में डूबकर मर जाना अच्छा है; पर मिथ्यात्व सहित जीवन जीना किसी भी हालत में अच्छा नहीं है; क्योंकि इन सबके कारण तो एक भव ही नष्ट होता है, पर मिथ्यात्व के कारण तो भव-भव में दुःख भोगने पड़ते हैं।

यह सब पापों की जड़ है, पापरूपी वृक्ष का बीज है, नरकरूपी घर का प्रवेश द्वार है, स्वर्ग-मोक्ष का शत्रु है।[१]

अतः हे भव्य जनो ! तुम इसको दूर से नमस्कार कर लो। इसे अपने पास न फटकने दो।''

चौथे व्यक्ति के मुख से गुरुदेव का यह संदेश सुनकर सुनकर सभी श्रोताओं ने संकल्प किया कि सबसे पहले इस मिथ्यात्व को ही जड़मूल से उखाड़ने का प्रयत्न करेंगे, तभी हमारा सारा श्रम सार्थक होगा। •

---

१. वरं सर्प मुखं वासो, वरं च विषभक्षणम् ।
अचलाग्नि जले पातो, मिथ्यात्वे च जीवितम् ॥
सकल दुरित मूलं, पाप वृक्षस्य बीजम् ।
नरक गृह प्रवेश स्वर्ग मोक्षैक शत्रुम् ॥

२१

धर्मेश अपनी नियमित चर्या के अनुसार सायंकालीन भोजन के बाद अपने साथी और शिष्यों के साथ पर्यटन को जा रहा था कि रास्ते में उसे एक दिन एक घर के अंदर से सुमधुर स्वर में एक आध्यात्मिक भजन सुनाई दिया। धर्मेश का ध्यान उस भजन के बोलों पर अटक गया और वह उस भजन को कान देकर सुनने लगा। भजन के बोल थे -

परिणति सब जीवन की, तीन भाँति वरनी ।
एक पुण्य एक पाप, एक राग हरनी ॥
तामें शुभ-अशुभ अन्ध, दोय करे कर्मबन्ध ।
वीतराग परिणति ही, भव समुद्र तरनी ॥ परिणति ०

एक साथी ने पूछ लिया - "धर्मेश जी ! आप चलते-चलते रुक क्यों गये ? क्या बात है ऐसी इस संगीत में ?"

धर्मेश ने कहा - "संगीत में तो कोई खास बात नहीं है; पर भजन का प्रत्येक बोल विचारणीय है। देखो न ! क्या-कहा ? यदि भवसमुद्र से पार होना हो तो वीतराग परिणतिरूपी तरणी (नौका) ही हमें इस संसार-सागर से पार उतार सकती है। अत: हमें शुभाशुभ भावों से मैली अपनी परिणति को त्याग कर जैसे बने वैसे - मौत की कीमत पर भी अपने में वीतराग परिणति पैदा करने का पुरुषार्थ जगाना होगा।

अपनी इस मिथ्यात्व से मैली, कषाय से कलुषित तथा राग से रंजित परिणति की हमें कुछ भी खबर नहीं है। सब 'अपनी-अपनी ढपली व अपने-अपने राग' अलापने में मस्त हैं, मदोन्मत्त हैं। किसी को भी यह परवाह नहीं हैं कि यदि इसी परिणति में हमारा मरण हो गया तो हम मर कर कहाँ जायेंगे ? क्या गति होगी हमारी ?

अत: क्यों न आज की ज्ञान-गोष्ठी में इसी विषय पर थोड़ी चर्चा करें ताकि लोग इस दिशा में भी सोचें और निरन्तर हो रही आर्त-रौद्रध्यान रू खोटी परिणति के दुष्परिणामों से बच सकें।"

रात के सात बजने को ही थे कि धर्मेश अपने निश्चय के अनुसार चच करने अपने आसन पर जाकर बैठ गये। सात बजते-बजते यथा समय सब श्रोत भी आ गये और जिसे जहाँ जगह मिली, चुपचाप बैठ गये।

ज्यों ही धर्मेश ने मनमोहन को आगे बुलाया तो वहाँ बैठे सभी व्यक्तिय की निगाहें दरवाजे में प्रवेश करते मनमोहन की ओर मुड़ गईं। अनेक लोग के चेहरों पर प्रश्नचिन्ह उभर आये। गुरुदेव मनमोहन जैसे व्यक्ति को इतन सम्मान क्यों दे रहे हैं ?

उन्हें क्या पता था कि धर्मेश ने मनमोहन को जीवन-दान दिया था, मौ के मुँह से बचाया था - यह रहस्य केवल धर्मेश और मनमोहन के बीच ह सुरक्षित था। धर्मेश से सहानुभूति एवं स्नेह पाकर मनमोहन मानो कृतार्थ ह गया था। वह आगे आकर चुपचाप नीची निगाहें करके सहमा-सहमा सा बै गया। दो मिनट तक जब कहीं से कोई प्रश्न नहीं पूछा गया तो धर्मेश के चि में जो ध्यान सम्बन्धी चिन्तन चल रहा था, उसे ही चर्चित करने के लिए उस अपने सामने बैठे मनमोहन के चिन्ताग्रस्त चेहरे को प्रकरण का मुद्दा बनाक कहा -

"मनमोहन ! तुम्हारे मुख-मण्डल पर जो रेखायें हम देख रहे हैं, वे रेखा तुम्हारे मनोगत भावों को बता रहीं हैं कि तुम इस समय किस भाव में विच रहे हो ? तुम्हारा मनोगत भाव तुम्हारे चेहरे पर स्पष्ट झलक रहा है। निश्चि ही तुम्हारी परिणति किसी कषाय के कुचक्र में फंसी है, राग-द्वेष के जंजा में उलझी है, मोह-माया से मलिन हो रही है अथवा कहीं किसी संयोग- वियोग की आशंका की आँधी में किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो रही है।

जानते हो इस परिणति के रूप में तुम्हें यह कौनसा 'ध्यान' हो रहा है और इसका क्या फल होगा ?

धर्मेश की बातें सुनकर मनमोहन स्तब्ध रह गया। उसने मन ही मन सोचा - ध्यान? मैंने तो आज तक कभी कोई ध्यान किया ही नहीं, मुझे ध्यान करना आता ही कहाँ है ? मैंने कभी ध्यान करने का सोचा भी नहीं। ध्यान करना तो साधु-संतों का काम है। पिता के निधन के बाद मुझे तो दिन-रात घृत, नमक, तेल, तंदुल और परिवार की चिन्ता में धर्मध्यान करने की बात सोचने की भी फुर्सत नहीं मिली। क्या चिन्ता-फिकर करना भी कोई ध्यान हो सकता है ? मेरे माथे पर चिंता की रेखाएं हो सकती हैं, पर माथे की उन लकीरों में ऐसा क्या लिखा है जो धर्मेश ने पढ़ लिया है। मैंने तो इस विषय में किसी से कुछ कहा भी नहीं है। ये अन्तर्यामी कब से बन गये ? कमाल है! ...

मनमोहन को स्तब्ध और चिन्तित मुद्रा में देख धर्मेश ने पुनः कहा -

''मैं समझ गया कि तुम क्या सोच रहे हो ? किस चिन्ता में घुल रहे हो? मनमोहन तुम दुर्व्यसनों से तो मुक्त हो गये; पर पश्चात्ताप की ज्वाला में अभी भी जल रहे हो। तुम्हें पता नहीं, यह शोक-संतप्त परिणति भी तुम्हें इस संसार सागर से पार नहीं होने देगी।

यह भी एक सहज संयोग ही है कि आज तुम अनायास गोष्ठी में आ गये और आज ही अनायास जीवों की विविध परिणतियों से परिचय कराने वाला ऐसा क्रान्तिकारी मार्मिक भजन हमारे सुनने में आ गया, जिसने हमारे मन-मस्तिष्क को आन्दोलित कर दिया और हमने तभी यह संकल्प कर लिया कि आज की ज्ञानगोष्ठी में हम जीवों की परिणति की ही चर्चा करेंगे। तुम्हें चिन्ताग्रस्त देखकर हमें यह चर्चा अधिक उपयोगी लगने लगी है। सच है, जब कोई भला काम बनना होता है, तब ऐसे बनाव सहज ही बन जाते हैं। नेक-निमित्त भी वैसे ही मिल जाते हैं। हम जानते हैं कि तुम जिन भावों में जी रहे हो, वह कौनसा ध्यान है ? तुम इस समय यह कुछ नहीं बता सकोगे। पर हमारे प्रश्न से तुम्हारे मन में जो उथल-पुथल हुई है, जो प्रश्न उभरे हैं, जो जिज्ञासा जगी है, वह जिज्ञासा ही तुम्हें समाधान ढूंढने के लिए विवश करेगी।''

मनमोहन ने विनम्र भाव से कहा – "गुरुजी! जीवों की विविध परिणतियं से परिचय कराने वाले उस भजन को एवं उसके क्रान्तिकारी भावों को ह भी सुनना चाहते हैं। यदि संभव हो तो आज इसी विषय पर चर्चा हो जाये बड़ी कृपा होगी आपकी।"

धर्मेश ने कहा- "अहा ! क्या भावपूर्ण भजन था वह ! प्राचीन कवियं की काव्य-कला एवं भाषा-शैली तो सरस है ही, भाव भी कैसे गजब के हैं इन आध्यात्मिक भजनों में!

'परिणति सब जीवन की तीन भाँति वरनी।'

इस भजन में जीवों की परिणति का परिचय कराते हुए कवि कहता है वि 'शुभ और अशुभ दोनों ही परिणतियाँ अंध हैं और कर्मबन्ध की कारण हैं अहा ! एकमात्र वीतराग परिणति ही भव-समुद्र से तारने वाली तरणी है संसार-सागर में गोते खाते प्राणियों को पार उतारने वाली नौका है।

जिसप्रकार नौका व्यक्तियों को नदी व समुद्र के इस पार से या मझधा से उस पार पहुँचा देती है; उसीप्रकार वीतराग परिणतिरूप तरणी जीवों क संसार-सागर से तार देती है, भव-समुद्र पार लगा देती है।"

धर्मेश द्वारा प्रस्तुत की गई चर्चा का रस परिपाक हो ही रहा था वि मनमोहन बीच में ही बोल पड़ा – "गुरुजी ! आपका फरमाना बिल्कुल वाजिब है, सत्य है; परन्तु हम जैसे पापी जीव क्या करें ? कम से कम हम जैसों क तो अभी पाप छोड़ने एवं पुण्य करने का ही उपदेश उपयुक्त है। हम लोग में तो अभी इन्सानियत भी नहीं है, पहले हम इन्सान तो बन लें, तभी तो भगवा बनने की बातें सार्थक होंगीं ?"

मनमोहन का यह बीच में बोलकर रंग में भंग करना लोगों को पसन्द नहं आया। एक ने दूसरे के काम में कानाफूसी की – "धर्मेश गुरुजी ने इस मनमोहन को आगे क्या बुला लिया, इसके तो भाव ही बढ़ गये, हौंसले हं बुलन्द हो गये। किसी विचारक ने ठीक ही कहा – छोटे व्यक्ति को जरूरत से ज्यादा मान मिल जाये तो वह उसे पचा नहीं पाता।"

पास में बैठे तीसरे ने कहा - "तुम भी क्या आदमी हो, खुसर-फुसर करते ही रहोगे। कुछ चर्चा भी सुनने दोगे या यों ही अपना व दूसरों का समय वर्बाद करते रहोगे ?"

मनमोहन की बात सुनकर पहले तो धर्मेश थोड़े मुस्कुराये, फिर धीरज के साथ बोले - "भाई ! पाप छोड़ने का उपदेश तो सारी दुनिया परस्पर में भी एक-दूसरे को देती ही रहती है। और देना भी चाहिए। पर यहाँ विचारणीय बात यह है कि जो पापी पाप करते हैं, दिल से वे भी उसे बुरा मानते हुये अपनी मजबूरी से ही करते हैं और हम भी समय-समय पर पाप त्यागने की बात कहने से नहीं चूकते; परन्तु तुम ही बताओ ! कितनों ने छोड़ दिया पाप करना ऐसे उपदेशों से ? भाई ! तत्त्वज्ञान के बिना पापप्रवृति नहीं छूट सकती ! कषाय की मन्दता-तीव्रता में पापों की हीनाधिकता तो होती रहती है; पर पाप जड़-मूल से नहीं जाते।

अरे भाई ! जब इस बात को बच्चा-बच्चा जानता है कि पाप बुरे हैं, तो फिर उसके लिए उपदेश की जरूरत ही कहाँ रह जाती है? फिर भी इसके उपदेशदाता कदम-कदम पर बैठे हैं। पाप करने से पत्नी रोकती है, माता-पिता समझाते हैं, पुत्र-पुत्रियों का राग आड़े आता है, पड़ौसियों की लाज-शरम पाप न करने की परोक्ष प्रेरणा देती रहती है। काया से यदि कोई पाप करता है तो सरकार दण्ड देती है, वाणी से कोई पाप करता है तो समाज उसका बहिष्कार कर देती है, मन पर भी धर्म का अंकुश लग ही जाता है। क्या इतना सब कम पड़ रहा है पाप न करने की प्रेरणा देने के लिये; जो मुझे भी तुम यही उपदेश करने का आग्रह कर रहे हो और वह भी वीतरागी तत्त्वचर्चा के स्थान पर ... ?

थोड़ा आत्म-निरीक्षण करो; कहीं ऐसा तो नहीं है कि वीतराग चर्चा को बन्द कराने के लिये ही तुम्हारे अन्दर बैठा मोह राजा तुम्हें यह कहने के लिए प्रेरित कर रहा हो; क्योंकि मिथ्यात्व महाराज को वीतराग चर्चा से चिड़ है। अत: जब भी जहाँ-कहीं वीतराग चर्चा की योजना बनाई जाती है तो इस मिथ्यात्व के द्वारा इसी तरह विद्रोह का वातावरण बनाया जाता है। अत: अपने अन्दर बैठे मोह (मिथ्यात्व) रूप शत्रु को पहचानो और वीतराग धर्म की चर्चा से इन्कार मत करो।

अरे भाई ! शुभ परिणति अपने आप में अच्छी है, तभी तो उसका नाम शुभ है, परंतु अशुभ परिणति की तरह वह शुभ परिणति भी भव-समुद्र को तारने के लिए 'तरणी' नहीं बन सकती; क्योंकि दोनों एक राग की ही धातु से निर्मित होतीं हैं। राग परिणति ही पुण्य-पाप रूप है, जिसका फल संसार है और वीतराग परिणति धर्मरूप है, जिसका फल मोक्ष है। अतः वीतराग परिणति को ही भवसमुद्र तरणी कहा है।

जिस तरह लौकिक नदी-समुद्र पार करने के लिए नौका काष्ठ की ही बनती है, लोह आदि धातुओं की नहीं; उसी तरह भवसागर पार करना हो तो वीतराग परिणतिरूप काष्ठ से ही तरणी बनेगी, रागरूपी धातु से नहीं।

हाँ, जितना योगदान लकड़ी की नौका बनाने में लोहे के कील-पुरजों का होता है, उतना योगदान वीतराग परिणति के साथ शुभराग का हो सकता है; पर नौका लकड़ी या काष्ठ की ही कहलाती है, लोहे की नहीं।''

धर्मेश के द्वारा आगम, युक्तियों और उदाहरणों से समझाये जाने पर भी तत्त्वज्ञान से अनजान मनमोहन अधिक तो कुछ नहीं समझा; पर इतना अवश्य समझ गया कि धर्मेश सचमुच धर्मात्मा है, बहुत बड़ा ज्ञानी पुरुष है और वह भी पाप को सर्वथा बुरा मानता है तथा पुण्य कार्यों की भी यथायोग्य प्रेरणा देता है। शुभकार्य भी करता है; पर शुभ में अटकता नहीं है। जो भी धर्मेश के विरुद्ध प्रचार है, वह सब मोह की ही महिमा है, अज्ञान की ही बलिहारी है। सचमुच धर्मेश तो देवता है देवता। जैसा नाम है वैसा ही उसका काम है।

इस तरह मनमोहन धर्मेश की चर्चा से पूरी तरह संतुष्ट था। उसे ऐसा लगा – सचमुच बातें तो ये ही सुनने जैसीं हैं। यह सोचते-विचारते वह अपने अतीत में खो गया, अब तक की हुई अपनी परिणति का आत्म-निरीक्षण करने लगा।

धर्मेश ने मनमोहन को संबोधते हुए पुनः कहा – ''अरे मनमोहन ! कहाँ खो गये ? क्या सोच रहे हो ? किसका ध्यान करने लगे हो ? अरे ! आत्मध्यान

सिवाय मिथ्यात्व की भूमिका में जो भी सोचा-विचारा करोगे या अब तक रते रहे हो, वह सब आर्त-रौद्र ध्यान ही है। सोचा कभी? क्या फल होगा न आर्त-रौद्र भावों का ? कभी धर्मध्यान भी किया या नहीं ?

संभलकर बैठते हुए मनमोहन ने कहा - "हमारा काहे का ध्यान ? हम या जानें ध्यान करना ? सचमुच हम तो पापी हैं, दिन-रात पाप का ही चिन्तन लता है, पाप की धुन में ही मग्न रहते हैं। ध्यान करना तो बहुत बड़ी बात , हम तो ध्यान की परिभाषा भी नहीं जानते। यही कारण है कि कर की लायें फेरते-फेरते युग बीत गया; पर मन का फेर नहीं गया।

कबीर ने ठीक ही कहा है -

माला फेरत जुग गया, गया न मन का फेर ।
कर का मनका डार दे, मन का मनका फेर ॥

गुरुजी ! मैं आपसे क्या छिपाऊँ ? आप तो मेरे ज्ञान-गुरु हैं, सन्मार्ग-दर्शक , मैंने अपने जीवन में बहुत पाप किये हैं। आपको ज्ञात हो या न हो; पर सच ह है कि मेरे दुर्व्यसनों के कारण मेरी पत्नी मोहिनी तो जीवन भर परेशान ही ही, मेरी दोनों पुत्रियाँ सुनन्दा एवं सुनयना भी सुखी नहीं रहीं। उनका भी रा जीवन दुःखमय हो गया, बर्बाद हो गया।

उन्हें देख-देख मेरा मन आत्मग्लानि से इतना भर रहा है कि अब और छ करना-धरना सूझता ही नहीं है। धर्म-कर्म में भी मन बिल्कुल लगता ही हीं है। उनके दुःख की कल्पना मात्र से मेरा रोम-रोम रोमांचित हो जाता है। लेजा काँप जाता है। अंग-अंग सिहर उठता है। आँखों से गंगा-जमुनी धारायें ट पड़तीं हैं। कुछ समझ में नहीं आता, अब मैं क्या करूँ ?

ऐसी स्थिति में ध्यान करना तो बहुत दूर, ध्यान के बारे में कुछ सोचना-मझना भी संभव नहीं है। मैंने तो आज तक ध्यान वगैरह कुछ किया ही हीं है। ध्यान के नाम पर कभी मिनट दो मिनट भी तो नहीं बैठा। क्या विचार रूँ उसके फल पर ? क्या आशा करूँ उसके फल की ? जब ध्यान का बीज नहीं बोया तो फल कहाँ से, कैसे प्राप्त होंगे? "

कहते-कहते मनमोहन का गला भर आया। वह आगे कुछ न बोल सका।

धर्मेश को मनमोहन से इसी प्रकार के उत्तर की उम्मीद थी; क्योंकि वह यह तो जानता ही था कि जो व्यक्ति प्रतिदिन देवदर्शन तक नहीं करता, वह क्या जाने संसारवर्द्धक आर्त-रौद्र ध्यान को एवं धर्मध्यान के स्वरूप को? वह तो अरहंत सिद्ध के नाम की माला फेरने को ही ध्यान समझता है।

धर्मेश का प्रश्न मात्र 'धर्मध्यान' के विषय में था, ध्यान के विषय में नहीं; पर मनमोहन को अभी ऐसी सूक्ष्म पकड़ कहाँ ? मनमोहन ही क्या और भी अनेक व्यक्ति ऐसे होंगे, जिन्हें धर्मध्यान व आर्त-रौद्रध्यान की पहचान नहीं है।

वैसे देखा जाय तो मनमोहन ही क्या, कोई भी संज्ञी पंचेन्द्रिय ध्यान के बिना तो कभी रहता ही नहीं है। यह दूसरी बात है कि **जहाँ ध्यान नहीं होता, वहाँ उसी ध्यान की भावना होती है**, पर वह भी एक तरह से ध्यान ही है; क्योंकि कर्मबन्ध की अपेक्षा ध्यान व भावना में कोई खास फर्क नहीं पड़ता।

न सही धर्मध्यान, पर आर्त-रौद्र ध्यान तो मनमोहन के सदैव होते ही हैं। पर उसे यह पता ही नहीं है कि वह आर्त-रौद्र ध्यान के रूप में कितना बड़ा पाप कर रहा है ? सचमुच इन आर्त-रौद्र ध्यानों को तो कोई पाप ही नहीं गिनता।

मनमोहन ने स्वयं को संभाल कर अपनी बात को जारी रखते हुए कहा - ''धर्मेशजी! मेरी कहानी बड़ी विचित्र है। आप तो मात्र इतना ही जानते हो कि - मैं आपके बालसखा अमित का श्वसुर हूँ। संभवतः इससे आगे आपको मेरे बारे में कुछ भी पता नहीं है। कभी समय मिलने पर मैं आपको अपनी कथा-व्यथा कहकर अपने मन का बोझ कम करना चाहता हूँ। मैं अभी उस दुर्भाग्यपूर्ण कथा को कहकर आपका एवं इन जिज्ञासु जीवों का कीमती समय बर्बाद नहीं करना चाहता, पर करूँ क्या ? कहे बिना रहा भी तो नहीं जाता। यदि आपकी आज्ञा हो तो ...''

धर्मेश ने सोचा - इसके मन का बोझ कम करने के लिए इसके मन में उमड़-घुमड़ रहे मानसिक दु:ख के बादलों को बरसने का समय तो देना ही होगा; अन्यथा अपनी चर्चा/वार्ता सब इसके माथे के ऊपर से ही निकल जावेगी, माथे में घुसेगी ही नहीं। भावनाओं का विरेचन तो होना ही चाहिए।

संभव है इसकी व्यथा-कथा हम सबके लिए भी प्रथमानुयोग की भाँति प्रेरणादायक और शिक्षाप्रद सिद्ध हो जावे। इसके ऊपर जो बीत रही है, वह भी तो पुण्य-पाप का ही खेल है ?

यह सब सोचकर धर्मेश ने मुस्कराते हुए कहा - "कहो ! कहो !! अवश्य कहो। हम सब शान्ति से सुनेंगे। यह समय भी समस्याओं के समाधान करने का ही है। फिर और कौनसा समय मिलने वाला है ? यदि तुम्हें सबके सामने कहने में संकोच न हो तो अवश्य कहो।"

मनमोहन ने मन ही मन सोचा - सबके सामने कहने में संकोच कैसा? जब जगत के सामने पापाचरण करने में संकोच नहीं किया, तो गुरुतुल्य धर्मेशजी और साधर्मी जनों के सामने कहने में अब काहे का संकोच ? मैं सबके समक्ष कह कर ही अपने पापों का प्रायश्चित्त करूँगा।

ऐसा निश्चय करके वह बोला - "धर्मेशजी ! जवानी के जोश में व्यक्ति होश खो बैठता है। ऊपर से यदि आर्थिक अनुकूलता मिल जाए तब तो फिर कहना ही क्या है ?

मेरे पिताजी बहुत बड़े व्यापारी तो थे ही, जमीन-जायदाद भी उनके पास बहुत थी। खेती से, साहूकारी से और व्यापार से अनाप-सनाप आमदनी थी उन्हें। उनकी देख-रेख में सब काम मुनीम-गुमाश्ते और नौकर-चाकर ही करते थे। पिताजी का पुण्यप्रताप ऐसा था कि उनके प्रभाव से बड़े-बड़े बुद्धिमान और बलवान व्यक्ति उनकी सेवा में सदैव तैयार रहते और उनके इशारों पर दौड़-दौड़ कर काम करते। आज्ञा उल्लंघन करने की तो किसी की हिम्मत ही नहीं थी।

सामाजिक कामों में तो वे सिरमौर थे ही, राजनीति में भी थोड़ा-बहुत दखल रखते थे। इन सब कारणों से मेरा बचपन तो एक राजकु

ठाठ-बाट से बीता ही, युवा होने पर भी मैंने कोई जिम्मेदारी महसूस नहीं की। मतलवी मित्रों के चक्कर में आ जाने से मदिरापान जैसे दुर्व्यसनों में फंस गया। बस, फिर क्या था? दिन-रात अपने दोस्तों के साथ राग-रंग और मौजमस्ती में समय वीतने लगा। बस, ऐसे में ही मेरा विवाह हो गया।

दुर्भाग्य से कुछ समय बाद ही पिताजी परलोक सिधार गये। पिता की मृत्यु से माँ अर्द्ध-विक्षिप्त-सी हो गईं। मेरी विषयासक्त प्रवृत्ति एवं लापरवाही का लाभ उठाकर धीरे-धीरे जमीन जोतनेवाले किसानों ने ही हड़प ली, साहूकारी मुनीम-गुमाश्तों ने अपने-अपने हस्तगत कर ली। उचित देखभाल के अभाव में व्यापार उद्योग ठप्प हो गया। लेन-देन के चक्कर में धोखाधड़ी के झूठे आरोपों में मुझे दो वर्ष की जेल हो गई। पापोदय के एक ही झकोरे में सब कुछ मिट्टी में मिल गया। पत्नी व पुत्र-पुत्रियों सहित सब अनाथ हो गये। उनकी जो दुर्दशा हुई उसकी कल्पना मात्र से रोंगटे खड़े हो जाते हैं।"

अपनी करतूतों की कथा कहते-कहते मनमोहन का गला भर आया। आगे वह कुछ न कह पाया।

धर्मेश ने आश्वस्त करते हुए कहा - "भाई ! दुःखी मत होओ। इससे भी पापबंध होता है। यह सब तो अपने पुण्य-पाप के उदय का खेल है। ये -पाप क्या-क्या गुल खिलाते हैं, इन्हें भी मात्र ज्ञान का ज्ञेय बनाकर छोड़ े, इससे प्रभावित मत होओ।"

एक श्रोता ने खड़े होकर विनम्र भाव से कहा - "भाई ! आपके जीवन की इस घटना ने तो मानो पुराण-पुरुष राजा सत्यन्धर के इतिहास को ही दुहरा दिया है। अपनी रानी विजया के मोह में मूर्छित हुए राजा सत्यन्धर के चरित्र पर टिप्पणी करते हुए पुराणकार ने ठीक ही लिखा है -

विषयासक्त चित्तानां गुण को वा न नश्यति ।
न वैदुष्यं न मानुष्यं, नाभिजात्यं न सत्यवाक् ॥

विषयों में आसक्त चित्तवालों के ऐसे कौनसे गुण हैं, जो नष्ट नहीं हो जाते ? उनके जीवन में न विद्वत्ता रहती है, न मनुष्यता रहती है, न बड़प्पन रहता है और न सत्यवचन ही रहते हैं।"

मनमोहन ने महसूस किया, स्वीकार भी किया कि - "हाँ, भाई ! आप विल्कुल ठीक कहते हैं। जब एक-एक विषय में आसक्त प्राणी अपने प्राण गंवा देते हैं, तो पाँचों इन्द्रियों के विषयों में आसक्त प्राणियों का क्या कहना ? इसका प्रत्यक्ष उदाहरण मैं आपके सामने हूँ। अतः अपना कल्याण चाहने वालों को सदैव इन इन्द्रियों के विषयों से दूर ही रहना चाहिए।"

आज गोष्ठी का समय मनमोहन की बातचीत में ही पूरा हो गया; पर अधिकांश लोगों ने यह महसूस किया कि यह भी बहुत बड़ा काम हो गया। इस वात से मनमोहन के जीवन में क्रान्तिकारी परिवर्तन तो आया ही, इनके प्रभाव में रहने वाले और भी अनेकलोग लाभान्वित होंगे।

समवेत स्वर में सभी ने स्वीकार किया कि वार्ता बहुत अच्छी व सभी को लाभप्रद रही। ध्यान की चर्चा भी आज नहीं तो कल - कभी न कभी तो होगी ही, इस आशा से गोष्ठी विसर्जित हो गई। सब अपने-अपने आवास की ओर चल दिये।

●



२२

चाँदनी रात थी, सुहावना मौसम था, रात के आठ बज रहे थे। ज्ञान-गोष्ठी पन्द्रह मिनट पहले ही समाप्त हुई थी। प्रतिदिन की भाँति सभी लोग गोष्ठी में चर्चित विषय पर परस्पर ऊहापोह करते अपने-अपने निवास की ओर जा रहे थे। परंतु चर्चा रोचक थी, अतः अधिकांश श्रोता चौराहे के पास पड़ी बेंचों पर बैठकर चर्चा करने लगे।

एक ने कहा - "भाई ! मनमोहन ने तो आज कमाल ही कर दिया।"

दूसरा बोला - "हाँ भाई ! उसकी हिम्मत की तो दाद देनी ही पड़ेगी; पर यह सब जो भी हुआ, वह हुआ तो गुरुदेव की कृपा से ही; अन्यथा उसकी क्या मजाल, जो गुरुजी के सामने ऐसा खुलकर बोल सके।"

आज की ज्ञान-गोष्ठी में धर्मेश और मनमोहन के मध्य हुई लम्बी चर्चा की थोड़ी-बहुत प्रतिकूल प्रतिक्रिया भी अनेक नये श्रोताओं के मन-मस्तिष्क हुई थी; पर अनुराग के मन में बहुत तीखी प्रतिक्रिया हुई। उससे चुप नहीं रहा गया। उसने अपने अग्रज विराग से हल्का-सा व्यंग करते हुए कहा -

"देखा भाईसाहब! यह राग कितना घुसपैठिया होता है, कितना पक्षपाती होता है, इसकी भी कल्पना की कभी आपने ?

देखो न ! इस राग ने आपके धर्मेश गुरुजी जैसों को भी नहीं छोड़ा; अन्यथा वे मनमोहन को आगे क्यों बुलाते ?"

कहने की टोन बदलते हुए अनुराग ने आगे कहा - "वैसे देखा जाये तो आपके गुरुजी को क्या लेना-देना था उस मनमोहन से ? जो उसे विशेष रूप से आगे बुलाया और इतना अधिक मुँह लगाया; पर वह अमित का श्वसुर जो है। और अमित तो गुरुजी का बचपन का साथी है ही। बस, इसीकारण उसे

मौका मिल गया। अन्यथा आपके गुरुजी तो वही हैं, जो अच्छों-अच्छों को घास नहीं डालते। यही तो है राग की करामात ! कैसे-कैसे कहाँ-कहाँ घुसपैठ करता है यह राग ?''

विराग ने व्यंग का जवाब व्यंग में देते हुए कहा - ''भला ! गुरुजी किसी को घास क्यों डालेंगे ? अच्छे-अच्छे लोग कोई जानवर थोड़े ही हैं, जिन्हें घास डाला जाय। वे आवश्यकता के अनुसार सबको अपनी बात कहने का मौका भी देते ही हैं और सबका यथायोग्य आदर-सम्मान भी करते हैं, प्रोत्साहन भी देते हैं। वैसे भी उन्हें साधर्मियों के प्रति अनन्य प्रेम है; पर वे बिना प्रयोजन के वाद-विवाद एवं तर्क-वितर्कों में नहीं उलझते। हर किसी को मुँह भी नहीं लगाते। इसीकारण यदि कोई टीका-टिप्पणी करता हैं तो भले करे, इससे वे प्रभावित नहीं होते। उनके माथे में सल तक नहीं पड़ते।''

अनुराग बोला - ''यही तो मैं भी कहता हूँ कि ऐसे लोगों को मौका ही क्यों दिया जाय? लोगों का क्या? उन्हें तो मौका मिलना चाहिए, फिर तो गूंगों की भी जबान खुल जाती है। गुरुजी ने मनमोहन को आगे क्या बुला लिया, फिर तो मानो उसे अभयदान मिल गया। देखो न ! जो व्यक्ति गुरुजी के सामने एक वाक्य भी ढंग से नहीं बोल पाता था, बोलने में जबान लड़खड़ाती थी, हाथ-पाँव काँपते थे, उस पट्ठे ने गुरुजी से थोड़ा-सा प्रोत्साहन पाकर मौका मिलते ही बोलना प्रारम्भ किया तो फिर गुरुजी को 'ध्यान' पर बोलने का मौका ही नहीं दिया। पूरा पौन घण्टा खुद ही बोलता रहा। गुरुजी को भी लक्ष्य-भ्रष्ट कर दिया।

गुरुजी ने 'ध्यान' के विषय में ही कितना बढ़िया प्रश्न पूछा था उससे। जिसका उसे मात्र हाँ या ना में उत्तर देना था। पर भला आदमी लग गया अपनी व्यथा-कथा कहने। उसकी वह व्यथा-कथा कहने-सुनने में वह 'ध्यान' का इतना अच्छा विषय सब गुड़-गोबर हो गया।''

विराग बोला - ''यह सच हैं कि ध्यान जैसा उपयोगी व अछूता विषय चर्चित होने से रह गया। यह भी सच है कि किन्हीं भी लौकिकजनों से राग करना अच्छा नहीं हैं। यह भी सच है कि लोग तत्त्वज्ञान प्राप्त करने के उद्देश्य से ही इतनी दूर-दूर से दौड़-दौड़ कर और उद्योग-धंधों को छोड़-छोड़कर

आये हैं, अतः समय का पूरा-पूरा सदुपयोग तो होना चाहिए। परंतु यह भी परम सत्य है कि समय के सदुपयोग की चिंता आप से भी अधिक स्वयं गुरुजी को भी रहती है, तभी तो वे ऐसे शिविरादि अवसरों पर १०५ डिग्री बुखार में भी प्रवचन करते हैं, डॉक्टरों के मना करने पर भी नहीं मानते।

अभी तुम्हें गुरुजी के अन्तरंग की पूरी पहचान नहीं है, नये-नये जो हो। क्या तुम्हारी व्यंग की भाषा हम नहीं समझते ? तुमने राग को भला-बुरा बताकर गुरुजी पर ही परोक्ष रूप में आरोप लगाया है; परंतु तुम स्वयं सोचो ? अभी गुरुजी पूर्ण वीतरागी तो हो नहीं गये; अरे ! अभी तो वे मुनि की भूमिका में भी नहीं हैं, हम-तुम जैसे ही सामान्य श्रावक हैं।

अरे भाई ! मुनिराज की भूमिका में भी जब शास्त्र लिखने, पढ़ने-पढ़ाने का एवं प्रवचनादि शुभकार्य करने का प्रशस्त राग आता है तो गुरुजी तो गृहस्थ हैं। यदि परोपकार की भावना से मनमोहन की भावनाओं को सुनकर उसके मनोविकारों का विरेचन करने का भाव उन्हें आ गया तो इसमें गलत क्या हो गया ?

मनमोहन ने भी विद्यागुरु के समक्ष अपने दोष प्रगट करके मानो एक तरह से प्रतिक्रमण ही तो किया है, प्रायश्चित्त ही तो किया है। क्या उसका यह कार्य हमें-तुम्हें भी अनुकरणीय नहीं है ? क्या उसके इस कार्य से हमें कुछ भी शिक्षा या प्रेरणा नहीं मिलती ?

जरा शान्ति से विचार करो - गुरुजी की भूमिका में ऐसा राग या विकल्प आना उचित है या अनुचित ?

अरे भाई ! मनमोहन के विचारों का विरेचन भी तो करना ही था। अन्यथा उसे तत्त्वचर्चा का कुछ भी लाभ नहीं होता; क्योंकि वह तो उन्हीं विचारों में डूबा रहता, उसी उधेड़-बुन में अटका रहता।

यही सब सोच-विचारकर गुरुजी ने ऐसा किया होगा। उसे इतना मौका जो दिया, वह निश्चित ही पूर्वापर खूब सोच-विचारकर ही दिया होगा।

भाई ! पूर्वापर बिना सोचे-विचारे छोटी-मोटी बातों से गुरुओं के प्रति श्रद्धा खण्डित नहीं होने देना चाहिए। ऐसा होने से उनके द्वारा प्रदत्त तत्त्वज्ञान का पूरा-पूरा लाभ नहीं मिल पाता। यह तो तुम जानते ही हो कि बिना प्रयोजन तो गुरुजी अच्छों-अच्छों को मुँह नहीं लगाते। अभी तुम्हें गुरुजी की विलक्षण बुद्धि और तात्कालिक निर्णय लेने की अद्भुत क्षमता व प्रतिभा का पता नहीं है। वे जहाँ दीन-दुखियों के प्रति द्राक्षा के समान कोमल हैं; वहीं अपने सिद्धान्तों के प्रति नारियल-से कठोर भी हैं।

जैसी करुणा उन्होंने की, वैसी करुणा गृहस्थों को ही क्या मुनिराजों तक को भी आती है। तभी तो शास्त्र लिखे जाते हैं। यद्यपि करुणा राग है और राग आग है, ऐसा धर्मात्मा जानते हैं; पर भूमिकानुसार ऐसी करुणा भी आये बिना नहीं रहती और आनी भी चाहिए।

गुरुजी ने उस पर थोड़ी-सी कृपा कर दी तो तुम्हारे पेट में इतना दर्द क्यों हो गया ? जो तुमने गुरुजी पर ही छींटाकसी कर डाली।

देखो ! प्रत्येक बोल को विवेक की तराजू पर तौल-तौल कर ही बोलना चाहिए। और सुनो ! गुरुजी अकेले मेरे ही गुरुजी नहीं है, मेरे गुरुजी होने से तेरे तो वे गुरु के गुरु हो गये; क्योंकि मैं तेरा बड़ा भाई तो हूँ ही, गुरु भी तो हूँ। जिन-जिन को उनसे तत्त्वज्ञान सीखने को मिला, वे उन सबके गुरुजी हैं। भाई ! स्कूल में लौकिक शिक्षा देने वाले भी जब हमारे गुरु हैं तो धर्मेश ने तो हमें तत्त्वज्ञान सिखाया है। अतः उन्हें भी विद्यागुरु का दर्जा देना तो हमारा नैतिक दायित्व है। अरे! लौकिक विद्या पढ़ाने वाले गुरु तो गली-गली में मिल जायेंगे; पर अध्यात्म विद्या का ज्ञान देने वाले तो इस युग में अत्यन्त दुर्लभ हैं, बड़े भाग्य से ही मिलते हैं।"

विराग व अनुराग दोनों सहोदर हैं, विराग अनुराग से दस वर्ष बड़ा है। विराग तो अनेक वर्षो से धर्मेश के सम्पर्क में है, अतः उनकी उदारता एवं धर्मानुराग आदि गुणों से भली-भाँति परिचित हो चुका है; पर अनुराग अपने बड़े भाई की प्रेरणा से प्रथम बार ही धर्मेश के आश्रम में आया है। अतः वह वहाँ की प्रत्येक गतिविधि को समीक्षात्मक दृष्टि से देखता-परखता है और

अपने अग्रज से एकान्त में वहाँ के गुण-दोषों की चर्चा किये बिना उससे रहा नहीं जाता। विराग भी उसकी भावनाओं को दबाने के बजाय उन्हें शान्ति से सुनकर उनका सही समाधान करना ही श्रेष्ठ समझता है। यद्यपि उसे अनुराग द्वारा की गई गुरुजी की टीका-टिप्पणी अच्छी नहीं लगी; फिर भी वह उस पर झुंझलाया नहीं, नाराज भी नहीं हुआ।

विराग बुद्धिमान व दूरदर्शी तो है ही, बड़े भाई का बड़प्पन भी उसमें है। उसने अनुराग को आँखें दिखाकर आतंकित नहीं किया, धमकाकर चुप नहीं किया; वह मानवीय मनोविज्ञान से सुपरिचित है। वह जानता है कि - जिस तरह गेंद को आवश्यकता से अधिक दबाया जाये तो वह या तो टूट-फूट जाती है या उचट जाती है; ठीक इसीप्रकार यदि नये आगंतुकों को जरूरत से ज्यादा दबा दिया जाये, तो वे भी टूट सकते हैं, फूट सकते हैं, उचटकर अन्यत्र जा सकते हैं। और जव अपने पास सही तत्त्व है, सही तथ्य है, प्रबल युक्तियाँ और आगम का सम्बल है, तो आतंकित करने की जरूरत ही कहाँ है ? धीरे-धीरे सब अपने आप समझ जायेंगे। थोड़े दिन सुनने तो दें शान्ति से उन्हें। ऐसी जल्दी भी क्या है ?

अनुराग धर्मेश के प्रवचनों में जब भी कोई नयी बात सुनता तो वह उसके मन को सहजता से स्वीकृत नहीं होती, मन में प्रतिक्रिया भी होती; पर उसने विराग के कहने पर यह भी निश्चय कर लिया था कि पहले वह पूरी बातें सुनेगा, उन पर विचार करेगा, फिर समझ में नहीं आयेगा तो बाद में विनय पूर्वक अपनी मर्यादा में रहकर एक-एक बात पूछेगा और अपना सब तरह से समाधान पाने का पूरा-पूरा प्रयत्न करेगा, तब कहीं कोई निर्णय लेगा।

'ध्यान' पर तो प्रवचन चल ही रहे थे, प्रसंगानुसार बीच-बीच में सम्यग्दर्शन के हेतुभूत भेदज्ञान, दृष्टि का विषय शुद्धात्मा तथा दर्शन-पूजनादि की उपयोगिता पर भी प्रवचन हुये, जिनका अनुराग को कुछ ज्ञान नहीं था। उसने अव तक ऐसे आध्यात्मिक दृष्टिकोण से ये विषय सुने ही नहीं थे। इसकारण वह धर्मेश के व्यक्तित्व व विचारों से दिन-प्रतिदिन प्रभावित होता चला गया और उसने यथासंभव अधिकतम समय तक रुककर पूरा-पूरा लाभ लेने का मन वना लिया।

•

२३

धर्मेश स्वयं तो प्रतिदिन प्रातः पाँच बजे अपने आश्रमवासी साथियों और शिष्यों के साथ घूमने-फिरने जाया ही करता। समय-समय पर बाहर से आए साधर्मीजन भी उसके सान्निध्य का लाभ लेने उसके साथ हो लेते।

धर्मेश घूमते समय अधिकांश चुप ही रहता। यदि कुछ कहने का भाव आता भी तो उस समय उसके मन में जो तात्त्विक चिन्तन चल रहा होता, उसी की चर्चा करता। राग-द्वेषवर्द्धक राजनैतिक व सामाजिक विकथा वह कभी नहीं करता।

शिक्षण-शिविर के समय उसके साथ घूमने-फिरने वालों की संख्या बहुत अधिक हो जाती। भले ही भीड़-भाड़ के कारण उन्हें धर्मेश से बात कहने-सुनने का अवसर न मिले, पर स्नेहवश उसके साथ घूमने जाते जरूर।

इन घूमने वालों में कुछ चतुर-चालाक ऐसे भी होते, जिन्हें सचमुच न तो घूमने-फिरने में ही खास रुचि होती और न तत्त्वचर्चा में भी कोई दिलचस्पी; फिर भी उनके साथ हो लेते।

ऐसे लोग धर्मेश से सीधा संपर्क बढ़ाकर मात्र उसकी निगाह में चढ़ने के प्रयोजन से ही पर्यटन में उसका साथ देते; क्योंकि उन्हें धर्मेश की और उनके अनुयायियों की एक खास कमजोरी मालूम हो गई थी, जिसका वे अपनी स्वार्थसिद्धि में उपयोग कर लेना चाहते थे।

धर्मेश की कमजोरी यह थी कि जो उसके घनिष्ठ परिचय में आ जाता, उसके मुँह लग जाता; उसके नाम का उल्लेख सहज ही धर्मेश के प्रवचनों में होने लगता था, जो परिचय में आने वाले के लिए वरदान बन जाता, उसकी प्रतिष्ठा में चार चाँद लगा देता। तथा उनके अनुयायी शिष्यों की कमा

थी कि धर्मेश के मुँह से जिसका भी नाम निकला, उसकी ओर उसी समय सब शिष्यों कीं, श्रोताओं कीं निगाहें मुड़ जातीं। न केवल निगाहें मुड़तीं, वे सब बिना आगा-पीछा सोचे आँख मींचकर उस पर समर्पित होने लगते। इस कमजोरी का अनेक लोगों ने समय-समय पर नाजायज लाभ भी खूब उठाया।

एक दिन तत्त्वचर्चा के समय ही धर्मेश के मुँहबोले शिष्य ने 'ध्यान' का विषय छेड़ते हुए कहा -

"गुरुजी ! आप तत्त्वज्ञान के शिविर तो लगाते ही हैं, यदि आप ध्यान के शिविर भी लगायें तो और भी लाखों लोग जुड़ सकते हैं अपने मिशन से। ज्ञान के साथ 'ध्यान शिविर' जुड़ जाने से मिशन की प्रतिष्ठा भी बढ़ सकती है।

आपको यह तो पता होगा ही कि आजकल ध्यान के शिविर भी खूब लोकप्रिय हो रहे हैं। उनकी लोकप्रियता को देखकर कुछ मुमुक्षु भाई भी उनकी ओर आकर्षित हो रहे हैं। क्यों न अपन भी ध्यान के शिविर लगायें ?"

धर्मेश ने कहा - "हाँ ! हाँ ! पता है, सब पता है; परंतु भाई ! शिविर ज्ञान के ही लगते हैं, ध्यान के नहीं। ज्ञानार्जन के लिए गुरु चाहिए, शिष्य चाहिए और ज्ञान के साधन चाहिए। इसके विपरीत ध्यान के लिए चाहिए बिल्कुल एकान्त।

शिक्षण-शिविर ज्ञान का शिक्षण-प्रशिक्षण देने के लिए लगाये जाते हैं और **ध्यान ज्ञानी जीवों के अन्तर्मुखी होने की प्रक्रिया है, जो कि एकान्त में स्वभाव-सन्मुखता के पुरुषार्थ से ही संभव है। ज्ञान व ध्यान में यही तो मौलिक अंतर है।**

स्वाध्याय व ज्ञानार्जन करने का स्वरूप ही कुछ ऐसा है कि इसमें एक से दो भले होते हैं, अनेक हों तो कहना ही क्या है ? परस्पर चर्चा-वार्ता में ज्ञान परिमार्जित होता है। दूसरों के ज्ञान का लाभ सहज ही मिल जाता है। परन्तु ध्यान में ऐसा कुछ नहीं होता। ध्यान की साधना ज्ञान से सर्वथा भिन्न है। ध्यान में दूसरों का क्या काम ? भीड़ में तो अच्छे-अच्छे साधकों की चित्तवृत्ति चंचल व अस्थिर हो जाती है, हम-तुम तो चीज ही क्या हैं ?

जिन ध्यान शिविरों की लोकप्रियता की तुम बात कर रहे हो, वे तो लोकप्रिय होने ही चाहिए; क्योंकि उनमें लोकरुचि के अनुकूल शारीरिक स्वास्थ्य का बहुत अच्छे ढंग से प्रशिक्षण दिया जाता हैं। प्राकृतिक रूप से स्वस्थ रहने की कला बताई जाती है। बड़ी से बड़ी बीमारी से बचने और निरोग रहने की विधियों में प्रशिक्षित किया जाता है।

पर, भाई ! अपना लक्ष्य जुदा है। उन्हें उनका काम करने दो, अपन अपना काम कर रहे हैं। अपने पास इतना समय व शक्ति कहाँ है जो यह भी कर लें और वह भी कर लें। फिर यह तो अपनी-अपनी रुचि की बात है, हमें उसमें उतनी रुचि ही नहीं है। हमारी रुचि तो विशुद्ध अध्यात्म में है।

सचमुच वे आत्मा के ध्यान अथवा धर्मध्यान के शिविर ही नहीं हैं। वे तो योग-साधना केन्द्र हैं, शारीरिक स्वास्थ्य केन्द्र हैं। उनमें आसन, प्राणायाम और योगिक क्रियाओं द्वारा स्वास्थ्य लाभ की मुख्यता से ही अधिकांश कार्यक्रम होते हैं, श्वसन क्रियाओं पर ध्यान केन्द्रित करने को कहा जाता है। वह स्वास्थ्य की दृष्टि से महत्वपूर्ण व उपयोगी है; परन्तु उन शिविरों से अपना प्रयोजन पूरा नहीं होता।''

दूसरा शिष्य विनयपूर्वक बोला - ''गुरुजी ! आपका कहना सच है, पर वहाँ भी बहुत शान्ति का अनुभव होता है। मैंने स्वयं उनके शिविर में जाकर देखा है।''

धर्मेश ने स्पष्टीकरण करते हुये कहा - ''भाई तुम्हारा कहना बराबर है। दिन-रात विषय-कषाय की आग में और धंधे-पानी की चिंता की ज्वाला में जलने वाले तथा सामाजिक राजनैतिक भाग-दौड़ में इधर-उधर भटकने वाले व्यक्ति यदि १०-१५ दिन को संपूर्ण निवृत्ति लेकर वहाँ जायेंगे और शान्ति से वहाँ अज्ञातवास में रहेंगे तो ७५ प्रतिशत राहत, शांति व सुख का अनुभव तो बिना कुछ किये ही हो जाएगा। फिर वहाँ के नियमानुसार बाउंड्री के बाहर के सभी से संबंध विच्छेद कर दिए जाएंगे और जैसा वे करायेंगे, वैसा ही पूर्ण

अनुशासन के साथ करते रहेंगे तो रिलेक्स शारीरिक आराम व मानसिक शान्ति उत वहाँ से निकलते ही फिर वही राग की कर्त्तृत्व की चिंता की चिनगारियाँ ? यह

लाभानंद ने सुखानंद व रामानंद की आँखों में धर्मेश के समाधान का समर्थन बराबर है, वहाँ से आने के बाद तो ...।

धर्मेश ने कहा - "अरे भाई ! यह स है; पर इससे हुआ क्या ? जब शरीर ही न अत: अब मात्र शरीर के संभालने में पूर

धर्मेश ने कुछ प्रेरणा देते हुए आगे क **तब लौं झटति निज हित करो।** जब त जकड़ा, उसके पहले ही शीघ्र आत्मा क

धर्मेश ने कहा - और भी सुनो ! कैसे आँखे खोलने का प्रयास किया है -

दूसरी बात यह है कि - सभी प्रकार के शिविरों में शिक्षण-प्रशिक्षण ही प्रधान होता है और शिक्षण-प्रशिक्षण त्रिमुखी प्रक्रिया है, इसमें कम से कम तीन आयाम तो होते ही हैं। एक-शिक्षक, दूसरा-शिक्षार्थी एवं तीसरा शिक्षण-प्रशिक्षण के साधन। और ध्यान संयोगों पर से संपूर्णतया ज्ञानोपयोग को हटाकर पाँच इन्द्रियों और मन के माध्यम से विकेन्द्रित ज्ञानोपयोग को आत्मा में केन्द्रित करने की, उपयोग को आत्मसन्मुख करने की अन्तर्मुखी प्रक्रिया है। इसमें एक शुद्धात्मा के आलम्बन के सिवाय अन्य कुछ भी नहीं चाहिए। यहाँ तक कि मन-वचन-काय भी, जो कि आत्मा के एक क्षेत्रावगाही हैं, उन तीनों योगों से भी काम लेना बन्द करके जब आत्मा का ज्ञानोपयोग अपने स्वरूप में ही स्थिर हो जाता है, उसे अध्यात्म में आत्मध्यान या निश्चय धर्मध्यान संज्ञा प्राप्त है।

ध्यान रहे, सामान्य रूप से आर्त-रौद्र ध्यान भी ध्यान ही कहे जाते हैं, पर यहाँ उन आर्त-रौद्र ध्यानों की बात नहीं है। यह आत्मज्ञान का प्रकरण है, अतः यहाँ 'ध्यान' शब्द को धर्मध्यान के अर्थ में ग्रहण करना चाहिए।

मन किसी न किसी एक विषय में अटका रहने के कारण व्यक्ति को हर समय कोई न कोई ध्यान तो होता ही है; परन्तु जो ध्यान राग-द्वेष मूलक होता है, वह सब अप्रशस्त आर्त एवं रौद्र ध्यान ही है।

लाभानन्द ने पूछा - "गुरुदेव! ये आर्त-रौद्र ध्यान क्या होते हैं?

इनके बारे में यह तो बहुत सुना कि ये कुगति के कारण हैं, पर इनकी पहचान और इनसे बचने का उपाय क्या है ? यह बतायें तो बड़ी कृपा होगी।

धर्मेश ने कहा - "भाई ! यह विषय ऐसे चलते-फिरते-घूमते समय नहीं समझाया जा सकता। इस पर तो शान्ति से बैठकर ही चर्चा हो सकती है। कल ज्ञानगोष्ठी में प्रश्न रखना, वहाँ एक-एक ध्यान पर एक-एक दिन विस्तार से चर्चा करेंगे, तब कहीं खुलासा होगा।"

बातों ही बातों में कब घूमने का समय पूरा हो गया, पता ही नहीं चला। धर्मेश अपने विश्रामस्थल चले गये। अन्य लोग भी अपने-अपने घर चले गये।

२४

धर्मेश में एक सुयोग्य सफल अध्यापक की तरह एक विशेषता यह थी कि वह जिस विषय पर प्रवचन करता, पहले उसका स्वयं सर्वांगीण अध्ययन, मनन, चिंतन कर लिया करता। इतना ही नहीं, आवश्यक नोट्स भी बना लेता; जिससे प्रवचन के महत्त्वपूर्ण मुद्दों का विशेष स्पष्टीकरण किया जा सके। कभी विस्मृत होने पर स्वयं भी पुनः अवलोकन कर सके।

इन दिनों सारे देश में 'ध्यान' का विषय बहुचर्चित था, क्योंकि जगह-जगह ध्यान के शिविर जो लग रहे थे। आश्रम में भी कानाफूसी हुआ करती थी। लोग धर्मेश के मुख से इस बारे में सुनना-समझना चाहते थे। सभी श्रोताओं में ध्यान का स्वरूप और उसकी यथार्थ प्रक्रिया विस्तार से जानने की जिज्ञासा जग गई थी। अतः सभी में इस विषय को सुनने का उत्साह था।

धर्मेश के निकट सम्पर्क के कारण अमित और मनमोहन के जीवन में जो आश्चर्यजनक परिवर्तन हुआ, उससे अमित की पत्नी सुनन्दा को पारिवारिक सुख-शान्ति तो मिली ही, उसका झुकाव भी धर्म की ओर हो गया था, तथा उसमें धर्म का मर्म जानने की जिज्ञासा भी जग चुकी थी।

सुनन्दा के साथ उसकी विधवा बहिन सुनयना को भी सन्मार्ग मिल गया। वह बेचारी पति के वियोग से पीड़ित थी। इस तरह यह पूरा परिवार धर्मेश के साथ बहुत ही निकट से जुड़ गया था। अब ये लोग तत्त्वज्ञान व धर्मध्यान का लाभ लेने के लिए सदैव लालायित रहने लगे थे। इनकी समझ में यह अच्छी तरह आ गया था कि सुख-शान्ति का एकमात्र यही उपाय है। अतः ये भी ध्यान पर होने वाले प्रवचनों की बड़ी ही उत्सुकता से प्रतीक्षा कर रहे थे।

धर्मेश ने भी 'ध्यान' का विषय मुख्यत: इन्हीं के लक्ष्य से चुना था; क्योंकि वह इस पूरे परिवार को अधिकांश आर्त-रौद्र ध्यान में ही डूबा देखता था। अत: वह चाहता था कि यह पूरा परिवार इस विषय को ध्यान से आद्योपान्त सुने।

धर्मेश को यह जानकर प्रसन्नता हुई कि सभी समय पर आ गये हैं और उत्सुकता से प्रवचन की प्रतीक्षा कर रहे हैं।

घड़ी ने तीन घण्टे बजाये ही थे कि ॐकार ध्वनि के साथ धर्मेश का प्रवचन प्रारम्भ हुआ। धर्मेश ने कहा - "आज आर्तध्यान के विषय पर विचार करना है। आर्तध्यान क्या है ? इसका वास्तविक स्वरूप क्या है ? यह क्यों होता है ? कितने प्रकार से होता है ? इसका क्या फल है ? इससे कैसे बचा जा सकता है ?

आर्तध्यान के संदर्भ में ये ही प्रश्न विचारणीय हैं। वैसे तो हम इष्ट वियोग जनित दु:ख के रूप में अनिष्ट संयोगों की चिन्ता के रूप में और रोग जनित वेदना के रूप में रात-दिन आर्तध्यान ही करते रहते हैं; पर यह नहीं जानते कि यही वह आर्तध्यान है, जिसके फल में एक इन्द्रिय निगोद से लेकर पंचेन्द्रिय पशु की पर्यायें प्राप्त होतीं हैं।

धर्मेश ने आगम के आधार से आर्तध्यान के वाह्य लक्षणों की चर्चा करते हुए बताया - "परिग्रह में अत्यन्त आसक्त होना, कुशील रूपप्रवृत्ति करना, कृपणता करना, अधिक व्याज से आजीविका करना, अत्यधिक लोभ करना, भयभीत रहना, उद्वेग करना, अतिशय शोक करना, पश्चात्ताप करना, आँसू वहाना आदि आर्तध्यान के वाह्य लक्षण हैं।"

आर्त्तध्यान के ये लक्षण सुनकर सभी श्रोता मन ही मन अपने परिणामों को परख रहे थे।

मनमोहन सोचता है - परिग्रह में अति आसक्तपना, कृपणता, अधिक व्याज वसूलना, भय, उद्वेग, शोक, पश्चात्ताप ये तो मुझमें होते ही रहते हैं; पर धर्मेश गुरुजी ने मेरे मन की ये सब बातें जान कैसे लीं ? मैंने तो कभी किसी से कुछ कहा ही नहीं। अरे ! ये तो अन्तर्यामी-से लगते हैं ?

सुनन्दा, सुनयना और अमित भी धर्मेश के प्रवचन को सुनकर अपने अन्तर में झाँकते हैं, तो वे भी स्वयं को किसी न किसी रूप में इन्हीं सब भावों से भरा पाते हैं और मन ही मन सोचते हैं - ये बातें तो एकदम सही हैं। इस तरह अमित और उसका परिवार भी धर्मेश के प्रवचनों से प्रभावित होता है।

धर्मेश ने आगे कहा - ''महापुराण में भी इसकी चर्चा है। वहाँ कहा है कि ऋत् अर्थात् जिस भाव में दुःख उत्पन्न हो, पीड़ा उपजे सो आर्तध्यान है। यह आर्तध्यान मुख्यतया अप्रशस्त ही होता है; क्योंकि यह ध्यान अविद्या से उत्पन्न होता है, मिथ्याज्ञान की वासना से उत्पन्न होता है।

पर के दोषों को ग्रहण करना, पर की लक्ष्मी को चाहना, पराई स्त्री को ताकना-घूरना तथा दूसरों की कलह को देखना भी आर्तध्यान ही है।

स्वयं विषयों की प्रवृत्ति से रहित भी हो, परन्तु अन्य के देखे हुए, सुने हुए, कहे हुए, भोगे हुये विषयों की चर्चा को सुने, मन में स्मरण कर उनमें रुचि ले तो उससे भी आर्तध्यान होता है।

पण्डित सदासुखदासजी ने रत्नकरण्डश्रावकाचार की टीका में आर्तध्यान के जो वाह्य चिन्ह लिखे हैं, उनका सार यह है कि - जिसको द्वेषवश ऐसा खोटा चिंतवन होता है कि अमुक का पुत्र मर जाये, स्त्री घर छोड़कर भाग जाये, अमुक को जेल हो जाये, अमुक बर्बाद हो जाये, बुद्धि भ्रष्ट हो जाये, अमुक के हाथ, नाक, कान कट जायें इन्द्रियाँ नष्ट हो जायें, लोक में अपवाद हो जाये; ऐसे विचारों द्वारा जो दूसरों का बुरा चाहा जाता है, कोसा जाता है, इससे उसका तो कुछ नहीं विगड़ता; क्योंकि उसका जीवन-मरण हानि-लाभ तो उसके पुण्य-पाप के आधीन होता है। हाँ, कोसने वाले का या बुरा चाहने वाले का यह भाव आर्तध्यानरूप होने से उसको पापबन्ध अवश्य होता है; परन्तु अविवेकी मिथ्यादृष्टि के कुछ विवेक नहीं होता। यदि थोड़ा भी विवेक होता तो ऐसा क्यों करता ?''

धर्मेश ने अपनी वात को आगे बढ़ाते हुए कहा - ''ऐसे जीव सदैव संदेह, शोक, भय, अवसाद से दुःखी तो रहते ही हैं; भ्रमितमन, उद्भ्रान्त, चंचल, विषयोन्मुख, निद्रालु, कलहग्रस्त और खिन्न भी रहते हैं।

धर्मेश के स्नेह और करुणा से ओत-प्रोत उपदेश को सुनकर अमित ने तो भारी राहत महसूस की ही, अन्य श्रोताओं को भी सुखद अनुभूति हुई।

अमित ने कहा – "भाई जी ! सुना है कि ये आर्त्त-रौद्र ध्यान तो बड़े-बड़े त्यागी व्रती और महाव्रती मुनिराजों तक के होते हैं, ऐसी स्थिति में हम जैसे व्यक्ति इनसे कैसे बच सकते हैं ?"

धर्मेश ने कहा – "घबराओ नहीं, मित्र ! यद्यपि तुमने जो सुना है, वह भी ठीक ही सुना है। शास्त्रानुसार रौद्रध्यान पंचम गुणस्थानवर्ती देश संयमियों के तथा आर्त्तध्यान में निदान को छोड़कर इष्टवियोग, अनिष्टसंयोग और पीड़ा चिन्तन का अस्तित्व मुनिराजों की भूमिका में भी पाया जाता है।

पर ध्यान रखो, इससे अपने को न घबड़ाने की ही जरूरत है और न शिथिल ही होना है; बल्कि सबको अपनी-अपनी सामर्थ्य के अनुसार सावधानी बर्तनी है।

जितने और जैसे आर्त्त-रौद्रध्यान उनके होते हैं, वे उन्हें हानि नहीं पहुँचा पाते; क्योंकि उनके पास तत्त्वज्ञान का बल है और सम्यक्चारित्र का संबल है।

जैसे हम-तुम प्रभावित हो जाते हैं, वैसे वे प्रभावित नहीं होते। सचमुच व्रती-महाव्रतियों के आर्त्त-रौद्र सपेरों के सापों के समान हैं, जो विषदंत विहीन केवल कहने के साँप हैं; उन्हें देखकर हमें अपने में होने वाले कषाय से कलुषित आर्त्त-रौद्र के खतरनाक विषधरों से नहीं खेलना चाहिए, उन्हें मनोरंजन का साधन नहीं समझना चाहिए।

ये खोटे ध्यान हमारे पास रहेंगे तो फिर भी। उन्हें रहने से तो हम नहीं रोक पायेंगे; पर हम भी तत्त्वज्ञान के महामंत्र से उन्हें विषदंत विहीन बना सकते हैं। अप्रशस्त से प्रशस्त में पलट सकते हैं, धर्मध्यान के रूप में भी बदल सकते हैं। जिनवाणी का स्वाध्याय एवं देव-गुरु-धर्म की शरण ही एकमात्र उपाय है इनसे बचने का। अतः इस दिशा में सदैव सक्रिय रहना चाहिए।"

धर्मेश का धर्मस्नेह और करुणा से ओत-प्रोत धर्मोपदेश सुनकर अमित ने तो भारी राहत महसूस की ही, सुनन्दा, सुनयना आदि सभी अन्य श्रोताओं को भी सुखद अनुभूति हुई। •

आध्यात्मिक। शरीरविज्ञान के अनुसंधान के अनुसार ध्यान का प्रथम प्रभाव शरीर तंत्र पर पड़ता है; इससे रक्तसंचार, हृदयस्पन्दन, ग्रन्थियों का रसस्राव और मनोभावना भी प्रभावित होती है। यह ध्यान उत्तरोत्तर शरीर, मन और अन्तःचेतना को ऊर्ध्वमुखी बनाता है। अन्य शारीरिक क्रियाओं के समान ध्यान से भी मस्तिष्क की तरंगों में परिवर्तन आता है।

इसप्रकार सामान्य ध्यान तन को विश्रान्त और मन को स्थिर करने की प्रक्रिया है। ध्यान से इन्द्रियाँ भी स्वतः नियंत्रित हो जातीं हैं। इस ध्यान के अभ्यास से शरीर के नाड़ीतंत्र और मेरुदण्ड में भी जागरण होता है।

भारतीय योगाभ्यासियों की भी लगभग यही मान्यता है कि **योग साधना शरीर तंत्र के शोधन की प्रक्रिया है और मनोवृत्तियों के नियंत्रण और रूपान्तरण के लिए भी योग साधना व ध्यान उपयोगी है।** इसप्रकार योग, प्राणायाम और ध्यान शरीर एवं मन के नियंत्रण में लाभकारी हैं। इस बात से मैं अनभिज्ञ नहीं हूँ।"

धर्मेश ने आगे कहा – "इसमें भी सन्देह नहीं कि यह योगसाधना और तत्सम्बन्धी ध्यान की प्रक्रिया शारीरिक स्वास्थ्य लाभ एवं मानसिक तनावों से छुटकारा पाने के लिए प्राकृतिक नियमों की निकटवर्ती होने से अन्य उपचारों की तुलना में सर्वोत्तम है। स्वास्थ्य लाभ की दृष्टि से तो इसकी उपयोगिता असंदिग्ध ही है; परंतु इस योग और प्राणायाम के द्वारा शरीर के अंगों व उपांगों पर अपना ज्ञानोपयोग केन्द्रित करने से अर्थात् शरीर के अंग-अंग का ध्यान करने से आत्मा का किंचित् भी हित नहीं होता।

वस्तुतः जैनदर्शन के अनुसार तो यह योगसाधना और प्राणायाम आदि धार्मिक क्रियायें ही नहीं हैं; क्योंकि आचार्य अकलंक देव, आचार्य शुभचंद्र आदि अनेक मनीषियों ने प्राणायाम को मोक्षमार्ग में बाधक माना है।

वे लिखते हैं – **मोक्षमार्ग में प्राणायाम कार्यकारी नहीं; क्योंकि श्वास-उच्छ्वास रोकने की वेदना से शरीरपात होने का प्रसंग है। इसकारण ध्यानावस्था में श्वासोच्छ्वास स्वाभाविक होना चाहिए।**[1]

---

१. राजवार्तिक, ९/२६

प्राणायाम में पवन के साधन से विक्षिप्त हुआ मन स्वस्थता को प्राप्त नहीं होता। इस कारण भी मोक्षमार्ग में प्राणायाम कार्यकारी नहीं। यहाँ 'ध्यान' शब्द का अर्थ ही जैनदर्शन के धर्मध्यान से सर्वथा भिन्न है। जैनदर्शन के धर्मध्यान की तो बात ही कुछ और है, वह तो आत्मज्ञान के बिना होता ही नहीं है। धर्मध्यान करने के लिए तो आत्मानुभूति होना अनिवार्य है।

वस्तुत: आप लोग 'ध्यान' शब्द से भ्रमित हो रहे हैं। जैनदर्शन के 'ध्यान' शब्द और योग साधना में प्रयुक्त 'ध्यान' में कोई खास तालमेल नहीं है। दोनों की परिभाषायें एवं व्याख्यायें बिल्कुल भिन्न-भिन्न हैं।

जैनदर्शन के अनुसार निश्चयत: धर्मध्यान आत्मा की अन्तर्मुखी प्रक्रिया है। इस प्रक्रिया में साधक अपने ज्ञानोपयोग को इन्द्रियों के विषयों व मन के विकल्पों से, पर-पदार्थों से एवं अपनी मलिन पर्यायों पर से हटा कर अखण्ड, अभेद, चिन्मात्र ज्योतिस्वरूप भगवान आत्मा पर केन्द्रित करता है, अपने ज्ञानोपयोग को आत्मा पर स्थिर करता है।

बस, इसे ही निश्चय से धर्मध्यान कहा जाता है. योग साधना और ध्यान शिविरों में इस ध्यान की तो चर्चा ही नहीं होती।

वस्तुत: धर्मध्यान ज्ञानोपयोग की वह अवस्था है, जहाँ समस्त विकल्प शमित होकर एकमात्र आत्मानुभूति ही रह जाती है, विचार-शृंखला रुक जाती है, चंचल चित्तवृत्तियाँ निश्चल हो जाती हैं। अखण्ड आत्मानुभूति में ज्ञाता-ज्ञेय का एवं ध्याता-ध्येय का भी विकल्प नहीं रहता।

इसप्रकार निश्चय धर्मध्यान की साधना के लिए व्यवहार धर्मध्यान में चिंतित तत्त्वज्ञान के अभ्यास द्वारा ज्ञानोपयोग को आत्मकेन्द्रित किया जाता है।

इसके विपरीत योग साधना के ध्यान शिविरों में आसन और प्राणायाम के माध्यम से साधकों को ध्यान करने के जो निर्देश दिये जाते हैं, उनमें ध्यान को अर्थात् ज्ञानोपयोग को नख से सिर पर्यन्त शरीर के एक-एक अंग पर, श्वास-उच्छ्वास पर ले जाकर वहाँ रोकने और साँस को आते जाते देखने-

और अमुक अंग शिथिल हो रहा है, शून्य हो रहा है - ऐसा अनुभव करने को कहा जाता है। अपने मन को श्वास-उच्छ्वास पर ले जायें और साक्षी भाव से आते-जाते श्वासोच्छ्वास का अनुभव करें - ऐसे निर्देश दिये जाते हैं। इस ध्यान में आत्मा की चर्चा ही जब कहीं नहीं आती तो आत्मानुभूति होने का तो सवाल ही नहीं उठता। सचमुच ये तो मात्र स्वास्थ्य साधना के केन्द्र हैं, इनसे हमारे धर्मध्यान का लक्ष्य पूरा नहीं होता।

लोगों को क्या, लोकरुचि तो वैसे ही बहिर्मुखी है। लोगों को तो बहाना मिलना चाहिए, वह भी धर्म के नाम पर। इसके लिए तो चाहे जितनी भीड़ इकट्ठी कर लो। सबको स्वस्थ रहने का लोभ तो रहता ही है। स्वस्थ रहने की क्रिया स्वास्थ्य के लिए करें तो कोई बाधा नहीं; पर धर्मक्रिया मानकर तो न करें।"

लाभानंद ने पूछा - "गुरुजी ! ये आसन, प्राणायाम और प्रत्याहार जो आपने बताये, इनका उल्लेख जिनागम में भी तो आया है न ? सुना है आचार्य शुभचन्द्र के ज्ञानार्णव ग्रन्थ में तो इनका बहुत विस्तृत वर्णन है। क्या स्वरूप है इनका और ध्यान में इनकी क्या उपयोगिता है ?"

धर्मेश ने उत्तर दिया - "हाँ, तुमने ठीक ही सुना है। आचार्य शुभचन्द्र ने इन पर बहुत गम्भीरता से विचार किया है और पूर्वाचार्यों ने जो प्राणायाम के तीन भेद बताये हैं - उसका भी उन्होंने उल्लेख किया है। प्राणायाम के बारे में ज्ञानार्णव का मूल कथन इसप्रकार है -

त्रिधा लक्षण भेदेन, संस्मृतः पूर्व सूरिभिः
पूरकः कुम्भकश्चैव रेचकस्तदनन्तरम् ॥ ३ ॥ , सर्ग २९

पूर्व आचार्यों के द्वारा लक्षण के भेद से प्राणायाम तीन प्रकार का माना गया है - कुम्भक, पूरक एवं रेचक।

कुम्भक - श्वास को धीरे-धीरे अन्दर खींचकर नाभिरूप कमल के भीतर कुंभ के आकार में दृढ़तापूर्वक रोकना।

पूरक - कुंभक में खींची हुई श्वाँस को रोके रखना।
रेचक - पूरक में रोकी हुई श्वाँस को धीरे-धीरे छोड़ना।

ये तीनों श्वाँस की क्रियायें करना ही प्राणायाम कहलाता है।

वस्तुतः प्राणायाम श्वासोच्छ्वास के अन्तर्गमन-बहिर्गमन एवं अन्तः स्थापन के नियंत्रण की प्रक्रिया है। कहते हैं - उपर्युक्त प्राणायामों में रेचक से उदर की व्याधि और कफ नष्ट होता है, पूरक से शरीर पुष्ट होता है और बहुत-सी व्याधियों का नाश होता है तथा कुंभक से हृदय कमल विकसित होता है। इसप्रकार प्राणायाम मूलतः शारीरिक स्वास्थ्य लाभ का विषय है।

आचार्य शुभचन्द्र ने प्राणायाम के अतिरिक्त प्रत्याहार की चर्चा भी स्वतंत्र एकअध्याय में की है। प्राणायाम के अध्याय में पहले तो प्राणायाम को अन्तःकरण की शुद्धि के लिए अनुशंसित किया, परंतु बाद में प्रत्याहार की अनुशंसा करते हुए प्राणायाम को ध्यान में बाधक बतलाया है।

उनका कहना है - प्राणायाम की क्रियायें स्वयं अपने आप में श्रम साध्य होने से थकान उत्पन्न करने के कारण ध्यान में बाधक बनतीं हैं। अतः धर्मध्यान के लिये प्राणायाम उपयुक्त नहीं।

इसप्रकार आचार्य शुभचंद्र ने भी प्राणायाम को बाधक ही माना है।"

धर्मेश के आगम सम्मत एवं युक्ति संगत इन विचारों को सुन अन्य आत्मार्थी तो सन्तुष्ट व प्रसन्न हुए ही; लाभानंद, रामानन्द एवं मनमोहन की समझ में भी आ गया।

धर्मेश ने आगे कहा - "प्रत्याहार का स्वरूप स्पष्ट करते हुए आचार्य शुभचन्द्र ज्ञानार्णव में ही कहते हैं - इन्द्रिय और मन के विषयों से अपने उपयोग को खींचकर, इच्छानुसार जहाँ लगाना चाहें, वहाँ लगाने की प्रक्रिया को प्रत्याहार कहते हैं।

ऐसा प्रत्याहार करनेवाला ज्ञानी साधक पाँचों इन्द्रियों एवं मन के विषयों से अपने ज्ञानोपयोग को (मन को) पृथक् करके आकुलता से रहित होता हुआ आत्मस्थ होता है।

'सम्यक् समाधि सिद्ध्यर्थं प्रत्याहं प्रशस्यते ।
प्राणायामेन विक्षिप्तं मनः स्वास्थ्यं न विन्दति ॥

समाधि को भली-भाँति सिद्ध करने के लिए प्रत्याहार ही प्रशंसनीय है; क्योंकि प्राणायाम से क्षोभ को प्राप्त हुआ मन शीघ्र स्वस्थ नहीं हो पाता।'

प्राणायाम की सफलता शरीर को हल्का-भारी करने में तो उपयोगी है; परंतु मुक्ति के अभिलाषियों को अभीष्ट सिद्धि में तो प्राणायाम बाधक ही है।

प्राणायाम के बारे में आचार्य स्वयं लिखते हैं - 'जो प्राणायाम की वायुसंचार विषयक क्रियायें अपने संदेह और पीड़ा की कारण हैं, उनसे क्या अभीष्ट सिद्धि होने वाली है, कुछ भी नहीं। जो मुक्ति का हेतु है, ऐसे ध्यान व प्रत्याहार को ही क्यों न अपनायें ?'

इस तरह हम देखते हैं कि जैनदर्शन में सामूहिक ध्यान की तो ऐसी कोई विधि नहीं है, जिसमें दूसरों के निर्देशन में सामूहिक ध्यान किया जाता हो।"

इसप्रकार धर्मेश ने लाभानंद की मनोगत समस्या का शास्त्र-सम्मत समाधान करके यह स्पष्ट कर दिया कि शारीरिक स्वास्थ्य की दृष्टि से योग साधना की उपयोगिता होते हुये भी आत्मकल्याण में इसका कोई स्थान या योगदान नहीं है।

धर्मेश के इस कथन से लाभानंद का ध्यान के शिविर लगाने सम्बन्धी दुराग्रह स्वतः समूल शमित हो गया। उसकी समझ में आ गया कि शिविर तो ज्ञान के ही लगते हैं, ध्यान के नहीं। •

---

१. ज्ञानार्णव : श्लोक ४, सर्ग ३०

२६

पवित्र उद्देश्य, निःस्वार्थ भाव और निश्चल मन से निकली अन्तरात्मा की आवाज सरलस्वभावी सजग श्रोताओं के मन को छुए बिना नहीं रहती।

यदि वक्ता की वाणी में आगम का आधार हो, युक्तियों का आलम्बन और स्वानुभवजन्य आत्मविश्वास हो, तब तो कहना ही क्या है ?

ऐसे उत्कृष्ट वक्ताओं को जब समझाने का विकल्प आता है तो समझना चाहिए कि उस क्षेत्र-काल में ऐसे भली होनहार वाले मंदकषायी श्रोता भी आस-पास में कहीं न कहीं होंगे ही; क्योंकि पुण्यात्माओं के विकल्प निरर्थक नहीं हुआ करते। ध्यान पर हो रहे धर्मेश के प्रवचन इस अनुभवसिद्ध बात को सार्थक सिद्ध कर रहे थे।

धर्मेश ने जब अपने प्रवचन में इस आर्त्तध्यान की यथार्थ स्थिति और उसके दुःखद फल का सशक्त भाषा में वैराग्यवर्द्धक सजीव चित्रण प्रस्तुत किया तो अनेक लोगों की तो आँखें भर आईं, हृदय गद्गद हो गया। स्थिति यहाँ तक पहुँच गई कि लोगों को रातभर नींद भी नहीं आई। सबसे अधिक अमित, सुनन्दा, मनमोहन और सुनयना की नींद हराम हुई थी; क्योंकि धर्मेश के प्रवचन ने सबसे अधिक इन्हीं लोगों की दुखती रग को छुआ था, इन्हीं के हृदय पर गुजर रही स्थिति को उजागर किया था। इन्हें ऐसा लग रहा था मानो धर्मेश ने इनके हृदय में बैठकर इनके मनोभावों का ही चित्रण किया हो।

मनमोहन सोच रहा था - यह आर्तध्यान ऐसा राजरोग है, जो थोड़ा- बहुत तो धर्मात्माओं को भी होता है; पर तत्त्वज्ञान से शून्य हम जैसे अज्ञानियों को तो यह बहुत बड़ा अभिशाप है। हम जैसों को तो यह कभी-कभी जीवन-मरण तक का प्रश्न बन जाता है। इससे कैसे बचा जावे ?

सुनन्दा तो अनिष्ट संयोगज आर्तध्यान की साक्षात् मूर्ति ही है। उसका अब तक का संपूर्ण जीवन इसी आर्तध्यान में ही बीता है। पिता मनमोहन के दुर्व्यसनी होने के कारण उसका बचपन जिन प्रतिकूल परिस्थितियों में बीता था, जो-जो यातनायें उसे उन प्रतिकूल प्रसंगों में भोगनी पड़ीं थी; धर्मेश का प्रवचन सुनकर उन अनिष्ट संयोगों के एक-एक दृश्य उसकी आँखों के सामने चलचित्र की भाँति आने-जाने लगे। धर्मेश का प्रवचन सुनकर वह भी यही सोच रही थी - हाय! **इन भावों का फल क्या होगा ? इनसे छुटकारा कैसे मिले ?**

भरे यौवन में अमित जैसे पियक्कड़ पति को पाकर जिन अनिष्ट संयोगों में एवं उनके निमित्त से होने वाले आर्तध्यान के दुष्चक्र में वह फंस गई थी; वे दृश्य भी उसकी दृष्टिपथ से गुजरे बिना नहीं रहे। वह रात भर बिस्तर पर पड़ी-पड़ी अनिष्ट की आशंका से इतनी घबरा गई कि उसकी नींद ही गायब हो गई।

सुनयना इष्ट वियोगज आर्तध्यान का मूर्तरूप थी। उसका तो अवतक का पूरे जीवन का हाल ही वेहाल रहा। धर्मेश के प्रवचन से उसके स्मृति-पटल पर वे सभी दु:खद दृश्य उभर आये। इप्टवियोग की परिकल्पनाओं से उसका वचपन वीता था और यौवन की सुखद कल्पनायें भी आकस्मिक



हुई दुर्घटना में अनायास ही धूल में मिल गईं थीं। वे एक-एक दृश्य उसकी आँखों के आगे भी आने-जाने लगे थे।

अमित दुर्व्यसनों के कारण राज-रोगों से ऐसा घिर गया था कि दिन-रात पीड़ा में ही कराहता रहता। अब तो पीड़ा की कल्पना मात्र से चीखने-चिल्लाने लगता। कल के प्रवचन में जब पीड़ा चिंतन आर्तध्यान के दुःखद दुष्परिणामों का चित्रण हुआ तो अमित की दशा और भी अधिक खराब हो गई। वह तो गिड़गिड़ा कर वहीं धर्मेश के चरणों से लिपट गया और कहने लगा - इससे बचने का उपाय बताइए। आप जो कहेंगे, मैं सब कुछ करने को तैयार हूँ।

इसीतरह मनमोहन का अब तक सारा समय निदान नामक आर्तध्यान में ही बीता था। धर्मेश के प्रवचनों से उसे भी अपनी इस भूल का पूरा-पूरा अहसास हो गया। उसकी आँखों के सामने भी वे सब दृश्य स्पष्ट झलकने लगे, जिनमें उसने लौकिक कामनाओं से अपने धन-वैभव के अर्जन, संरक्षण एवं उसके उपभोग हेतु देवी-देवताओं को प्रसन्न करने के नाना प्रयास किये थे, मिन्नतें मांगीं थीं। उसे महसूस हो रहा था कि उसकी वे धार्मिक क्रियायें सकाम होने से निदान आर्तध्यान ही थीं। उनमें धर्म-कर्म किंचित् भी नहीं था।

लौकिक कामनाओं से किए गये पूजा-पाठ, जप-तप आदि सब निदान आर्तध्यान की कोटि में ही आते हैं। धर्मेश के कल के प्रवचन में यह बात बहुत अच्छी तरह स्पष्ट हो गई थी।

प्रवचन में तो यह भी आया था कि मिथ्यादृष्टि की समस्त शुभभावनाएँ और शुभध्यान भी आर्तध्यान में ही माने जायेंगे; क्योंकि मिथ्यात्व की भूमिका में धर्मध्यान तो होता ही नहीं है और ध्यान के बिना कोई रहता नहीं है; अतः मिथ्यादृष्टि का शुभभाव निदान नामक आर्तध्यान ही है।

इसीप्रकार और भी सभी श्रोता लगभग ऐसा ही महसूस कर रहे थे कि किसी न किसी रूप में हमारे आर्तध्यान ही हो रहा है। धर्मेश के प्रवचनों से प्रेरणा लेकर जिसने भी अपने अंदर झांक कर देखा तो सभी को ऐसा लगा

– मानो वे हमारे हृदय की बात ही कर रहे हों। सभी को अपनी-अपनी भूल का अहसास हो रहा था, अपनी-अपनी कमजोरी ख्याल में आ रही थी। अपने परिणामों की पापमय परिणति स्पष्ट दिखाई दे रही थी।

सभी लोग बराबर समझ रहे थे कि अभी धर्म ध्यान होने की तो किसी में पात्रता ही नहीं है। होगी भी कहाँ से ? उसके लिए तो पहले सम्यग्दर्शन होना अनिवार्य है। चतुर्थ गुणस्थान में ही धर्मध्यान का शुभारंभ होता है। उसके पहले मिथ्यात्व की भूमिका में तो धर्मध्यान होता ही नहीं है। इस दृष्टि से विचार करें तो मिथ्यादृष्टि की पूजा-भक्ति, व्रत-उपवास आदि क्रियाओं में जो ध्यान होता है, धर्म का बाह्य साधन होने से उसे लोक व्यवहार में धर्मध्यान भले ही कहा जाता हो; पर मिथ्यात्व की भूमिका में वस्तुतः वह शुभभाव निदान नामक शुभ आर्तध्यान की कोटि में ही आता है।

आगम एवं युक्ति के आधार पर कही गई धर्मेश की एक-एक बात श्रोताओं के चित्त में खचित हो गई। मिथ्यात्व की भूमिका में धर्मकार्यों के पीछे भी कोई न कोई कामना होती ही है, चाहे वह यही क्यों न हो कि –

होऊ भव-भव स्वामी मेरे मैं सदा सेवक रहूँ।

यह भी तो कामना ही है।

यदि इस आर्तध्यान से बचना है और धर्मध्यान की सचमुच भावना है तो उसके लिए तो वीतराग देव, निर्ग्रन्थ गुरु एवं अनेकान्तमयी धर्म व स्याद्वाद शैली में निरूपित शास्त्रों का यथार्थ निर्णय; जीव-अजीव, आस्रव-बन्ध, संवर-निर्जरा, मोक्ष, पुण्य-पाप आदि तत्त्वों का यथार्थ ज्ञान-श्रद्धान तथा स्व-पर भेदविज्ञान आदि ही करना होगा।

निश्चय धर्मध्यान ज्ञानचेतना की वह अवस्था है, जहाँ समस्त शुभ विकल्प शमित होकर एक आत्मानुभूति ही रह जाती है, भेदरेखायें मिट जाती हैं, विचारश्रृंखला रुक जाती है, चित्त की चंचलवृत्ति निश्चल हो जाती है, अखण्ड आत्मानुभूति में ज्ञान-ज्ञेय का भेद नहीं रहता।

जिस विकल्पात्मक साधना से उपयोग को आत्मकेन्द्रित किया जाता है, वह व्यवहार धर्मध्यान कहा जाता है। मुख्यतः द्रव्य-गुण-पर्याय, वस्तु की कारण-कार्य व्यवस्था, वस्तुस्वातंत्र्य जैसे सिद्धान्तों के सहारे अकर्तृत्व की भावना को दृढ़ करते हुए बारह भावनाओं और वैराग्य भावना के माध्यम से संसार, शरीर और भोगों की असारता और क्षणभंगुरता को जानकर, उनसे उदास होकर ही चंचल चित्तवृत्ति निर्विकल्प की जा सकती है। इसी प्रक्रिया का नाम व्यवहार धर्मध्यान है।

जबतक पर में किसी भी प्रकार से परिवर्तन करने/कराने का सोच होगा, तबतक मन की वृत्ति/प्रवृत्ति पर नियंत्रण संभव नहीं होगा। अतः ध्यान के पूर्व लोक की स्वतंत्र, स्वचालित वस्तुव्यवस्था का ज्ञान अति आवश्यक है।

शास्त्रानुसार ज्ञान तो बहुतों को हो जाता है; पर ज्ञान के साथ उस पर श्रद्धान भी अति आवश्यक है। प्रतीति के बिना प्रीति नहीं होती और प्रीति के बिना प्रवृत्ति नहीं होती। श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र का अत्यन्त घनिष्ठ संबंध है। अतः सर्वप्रथम जैनदर्शन के मौलिक सिद्धान्तों का ज्ञान-श्रद्धान होता है, तब कहीं आत्मा का ध्यान होता है और ध्रुवधाम आत्मा के ध्यान से ही पर्याय में ध्रुवता की प्राप्ति होती है।

जिसे अभी देव-अदेव का ही विवेक नहीं है, आस्रव-संवर में अंतर स्पष्ट नहीं है, बंध व मोक्ष की प्रक्रिया का पता नहीं है, जीव-अजीव में भेदज्ञान नहीं है; उसे सम्यग्दर्शन कहाँ से होगा, कैसे होगा ? और जबतक सम्यग्दर्शन नहीं होगा, धर्मध्यान भी नहीं हो सकेगा।

इसप्रकार धर्मेश के प्रभावशाली तत्त्वज्ञानपरक प्रवचनों को सुनकर सभी श्रोता अपने को धन्य अनुभव कर रहे थे। •

२७

"हमने कभी सोचा भी नहीं होगा, साधारणतः कोई सोच भी नहीं सकता कि सवेरे-सवेरे आँखें खोलते ही हम प्रतिदिन जिन छोटे-मोटे कामों से अपनी दिनचर्या प्रारम्भ करते हैं, उनसे भी भयंकर पापों का बन्ध होता है। पर वास्तविकता यह है कि हमारे प्रभात का प्रारम्भ अधिकांश पापभावों से ही होता है और वह भी ऐसे व्यर्थ के कामों से, जिनसे हमारे किसी लौकिक प्रयोजन की पूर्ति भी नहीं होती।

यदि थोड़ा भी विवेक से काम लें तो हम बहुत से व्यर्थ के पापों से बच सकते हैं और अपने जीवन को मंगलमय बना सकते हैं।

विचार कीजिए - बिस्तर छोड़ते ही सबसे पहले हमारे हाथों में समाचारपत्र होता है; मुख्य समाचार पढ़ते ही हमारा मनमर्कट या तो हर्षित हो उछल-कूद करने लगता है या चित्त उदास हो जाता है। उस समय मन में जो हर्ष-विषादरूप नानाप्रकार के संकल्प-विकल्प होते हैं, उनमें हर्ष के भाव रौद्रध्यान और विषाद के भाव आर्तध्यान की कोटि में आते हैं; जो कि विशुद्ध पापभाव हैं और क्रमशः नरकगति व तिर्यंचगति के कारण हैं।

जरा सोचिये - जब हम बच्चों से लाड़-प्यार करते हैं, उन्हें गोद में लेकर खिलाते हैं, उनके साथ अपना और उनका मनोरंजन करते हैं, उन्हें नहलाते हैं, अच्छे-अच्छे कपड़े पहनाते हैं, उनके एक-एक क्रिया-कलाप पर प्रसन्न होते हैं, उनका बर्थ-डे मनाते, शादी-ब्याह करते, पार्टियाँ देते, स्वयं भी खाते-पीते, हंसते-हंसाते ऑफिस जाते, मित्रों से बातचीत करते, माता-पिता, पत्नी-पुत्र से स्नेहपूर्वक बातें करते हैं; तब क्या आपको ऐसा लगता है कि आप सचमुच कोई पाप कर रहे हैं ? अरे ! न तो आप ही ऐसा महसूस करते हैं और न सामान्य रूप से जगत ही ऐसा मानता है कि ऐसा करके हमने कोई पाप किया है।

जबकि वास्तविकता यह है कि ये सब अशुभभाव होने से पाप रूप ही हैं, आनन्दरूप होने से रौद्रध्यान हैं, जिनका फल नरकगति है, कुगति है।"

इसप्रकार अपने दैनिक जीवन के परिप्रेक्ष्य में रौद्रध्यान की चर्चा करते हुए धर्मेश ने कहा -

"हमें स्वयं ही पता नहीं है कि हम कितने गहन अंधकार में हैं। बहुत सारे पापभाव तो हमें पाप से ही नहीं लगते। घर में सब परिजन-पुरजन जब एकसाथ बैठकर बड़े प्रेम से टी.वी. देखते हैं, पत्नी से प्रेमालाप करते हैं, बच्चों से बातें करते हैं, एक-दूसरे के साथ मनोरंजन करते हैं, परस्पर प्रेम से रहने से मन ही मन प्रसन्न होते हैं, गौरवान्वित होते हैं और अपने घर-परिवार को आदर्श मानते हैं; तब यदि धर्म की दृष्टि से समीक्षा करें और परिणामों की परीक्षा करें तो पता चलेगा कि क्या सचमुच उस समय हमें पुण्यबंध हो रहा है या पापबंध हो रहा है अथवा मिथ्यात्व रूप महाअधर्म हो रहा है? निश्चित ही ये अशुभभाव होने से पाप परिणाम हैं और रौद्रध्यान के भाव हैं, इन्हें अनदेखा करना स्वयं को धोखे में रखना है।

इसके सिवाय और भी जो अशुभ भाव होने से पाप परिणाम हैं, उनमें आनन्द की अनुभूति रौद्रध्यान ही है, जिसे आगम में इसप्रकार कहा गया है -

हिंसा, झूठ, चोरी और विषय संरक्षण के लिए निरन्तर चिंतन करना रौद्रध्यान है।

जो हिंसा में आनन्द मानता है, असत्य बोलने में आनन्द मानता है, चोरी, विषयसेवन और परिग्रह संग्रह करने में आनन्द मानता है, इन कार्यों में जो जिसका चित्त लिप्त रहता है, रमा रहता है, वह सब रौद्रध्यान है।"

आर्त-रौद्र ध्यान का अन्तर स्पष्ट करते हुए धर्मेश ने कहा - "आर्तध्यान की प्रकृति दुःखस्वरूप है और रौद्रध्यान की प्रकृति आनंदरूप है। [illegible] अमित! तुम्हारा - 'खाओ-पिओ और मौज करो' [illegible] की कोटि में आता है ?"

अमित एकक्षण सोचकर बोला - "[illegible] रौद्रध्यान रूप ही हुए; क्योंकि खाओ-पिओ [illegible] विषयों में आनन्द मानने रूप ही [illegible]"

मुस्कराते हुए धर्मेश ने कहा - "वाह ! भाई वाह!! बात तो तुमने ध्यान से सुनी और समझी भी, इसके लिए तुम्हें जितना भी धन्यवाद दिया जाये कम है। भाई ! सारा जगत इन्हीं विषयों में और विषय-सामग्री के संग्रह करने में मगन है। किसी को कुछ खबर ही नहीं है कि हमारे इन परिणामों के फल में हमारी क्या दुर्गति होगी ?

देखो भाई, जैनधर्म के अनुसार पुण्य-पाप व धर्म का मूल आधार तो अभिप्राय व मान्यता ही है। इसीलिए कहा है कि किसी भी तरह से दूसरे के द्रव्य को छीन लेने या हड़प जाने का अभिप्राय, झूठ बोलने का अभिप्राय, दूसरों को मारने-पीटने व जान से मार डालने का अभिप्राय रौद्रध्यान है तथा पाँच स्थावर और त्रस - इन छहकाय के जीवों की विराधना में और असि-मसि-कृषि आदि हिंसक साधनों द्वारा परिग्रह के संग्रह में आनन्द मानना रौद्र ध्यान है।

रौद्रध्यान को परिभाषित करते हुए आगम में यह भी कहा है कि - जो भाव प्राणियों को जन्म-मरण के दुःखों में रुलाता है, भटकाता है, वह रुद्र कहा जाता है। इस अर्थ में हिंसा, झूठ, चोरी एवं परिग्रह संग्रह का परिणाम रुद्र है, इन रुद्र भावों में दिन-रात लगे रहकर आनन्द मानना रौद्रध्यान है।

स्वयं या दूसरों के द्वारा किसी को मारने-पीटने पर, पीड़ित किए जाने पर हर्षित होना एवं युद्ध में हार-जीत की भावना, बदला लेने की भावना आदि भी रौद्रध्यान है।"

रौद्रध्यानी व्यक्ति की बाह्य पहचान बताते हुए धर्मेश ने बताया -

"क्रूर होना, हथियार रखना, हथियार चलाने की कला में निपुण होना, हिंसा की कथा सुनने में रुचि लेना, टेढ़ीभौंह, विकृत मुखाकृति, क्रोधादि में पसीना आने लगना, शरीर काँपना आदि तथा कठोर वचन, मर्मभेदी वचन, आक्रोश वचन बोलना, तिरस्कार करना, बाँधना, तर्जन करना, ताड़न करना, परस्त्री पर अतिक्रमण करना आदि रौद्रध्यान की बाह्य पहचान है।"

लोक अनुभव के आधार से रौद्रध्यानियों का चित्रण करते हुए धर्मेश ने आगे कहा - "जो मात्र मनोरंजन के लिए शिकार खेलते हैं, मुंह में तिनका रखने वाले

भोले-भाले, दीन-हीन खरगोश एवं हिरणों जैसे मूक पशुओं को अपने हथियार का निशाना बनाकर प्रसन्न होते हैं; भालुओं, बन्दरों, सर्पों तथा तोतों, चिड़ियों आदि को बन्धन में डालकर अपना व दूसरों का मनोरंजन करते हुए उन्हें पीड़ित कर उनसे जो आजीविका साधने की सोचते हैं; यह सब रौद्रध्यान ही है।

और भी सुनो - "जिन लोगों को पशु-पक्षियों में मुर्गे, तीतर, भैंसे, बकरे, मेंढे, सांड और मनुष्यों को लड़ाने-भिड़ाने तथा लड़ते हुए प्राणियों को देखने, उन्हें लड़ने के लिए उकसाने, प्रोत्साहित करने में आनन्द आता है, वह सब रौद्र ध्यान है। भले ही वह व्यापारिक दृष्टि से किया जाये अथवा मनोरंजन के लिए किया जाये; सब रौद्रध्यान की ही कोटि में आते हैं।"

धर्मेश ने अमित से पूछा - "अब बताओ ? मार-काट, लड़ाई-भिड़ाई और अश्लील चलचित्र देखना एवं ऐसा ही साहित्य पढ़ने में रुचि लेना तथा जासूसी उपन्यास पढ़ना कौनसा ध्यान है ?"

अमित ने उत्तर दिया - "यह सब रौद्रध्यान ही है; क्योंकि रौद्रध्यानियों को ही तो इसप्रकार के चलचित्र देखने और ऐसा ही साहित्य पढ़ने आदि में आनन्द आता है।"

धर्मेश ने प्रवचन के बीच में ही अमित से पूछा - " बताओ अमित! तुम प्रतिदिन प्रात: जो न्यूजपेपर पढ़कर चुनावों की हार-जीत पर रुष्ट-तुष्ट होते हो, हर्ष-विषाद करते हो, वह कौनसा ध्यान है ?"

अमित ने कहा - "हर्ष में रौद्र व विषाद में आर्तध्यान होता है।"

अमित के उत्तर पर संतोष प्रगट करते हुए धर्मेश ने आगे कहा - "जैसी करनी वैसी भरनी की उक्ति के अनुसार ऐसे हिंसानंदी रौद्रध्यानियों को इन परिणामों के फल में नियम से नरकगति मिलती है। जहाँ वे सागरों पर्यन्त लड़ते-भिड़ते रहेंगे तथा अन्य नारकी इनके देह के तिल के दानों के बराबर छोटे-छोटे टुकड़े करेंगे, जिससे इन्हें मरणान्तक पीड़ा तो होगी, पर मरेंगे नहीं।

जिन्हें लड़ना एवं लड़ाना-भिड़ाना अधिक पसंद है, उन्हें नरक में लड़ने को खूब मिलता है। जिन्हें नरक जाना पसंद न हो, वे यहाँ लड़-भिड़कर दूसरों के जीवन को नरक न बनायें, किसी को परस्पर में लड़ायें-भिड़ायें नहीं।

जो आजीविका के लिए हिंसोत्पादक व्यवसाय, उद्योग-धंधे करके अधिक धन अर्जित कर प्रसन्न होते हैं, वे भी हिंसानन्दी रौद्रध्यानी ही हैं। मद्य-मांस-मधु एवं नशीली वस्तुओं का व्यापार, कीटनाशक वस्तुओं का उत्पादन आदि ऐसी अनेक चीजें हैं, जिनमें अनन्त जीव राशि की हिंसा अनिवार्य है। अधिक कमाई के प्रलोभन में पड़ कर ऐसे निकृष्ट धंधों को करके खुश होना हिंसानंदी रौद्रध्यान है, जिसका फल नरक है।

ध्यान रखें, सब अपनी-अपनी ही समीक्षा व समालोचना करें, दूसरों का सन्मार्ग दर्शन करने के लिए जिनवाणी माता ही पर्याप्त है। दूसरों की टीका-टिप्पणी के चक्कर में हम अपने दोष नहीं देख पाते।

चौर्यानन्दी रौद्रध्यान की सीमा में न केवल डाकू और चोर ही आते हैं, वल्कि वे सभी व्यापारी भी आते हैं जो अधिक पैसा कमाने के चक्कर में सोने-चाँदी, हीरे-जवाहरात की तस्करी कर तथा कर-चोरी करके उसकी सफलता पर प्रसन्न होते हैं।

इसके सिवाय विषय सामग्री को संकलन करके, चेतन-अचेतन परिग्रह का संग्रह करके, आवश्यकता से अधिक भोगोभोग सामग्री का संग्रह करके; उसके दर्शन और प्रदर्शन में उत्साहित होना विषयानन्दी या परिग्रहानन्दी रौद्रध्यान है।

यह बात आगम से तो सिद्ध है ही, युक्ति से भी सिद्ध होती है। जो व्यक्ति -झूठ-चोरी-कुशीलादि के संदर्भ में किसी एक प्राणी की हत्या करता है तो यहाँ मनुष्य के द्वारा बनाये कानून में उसे एक बार फांसी की सजा देने का नियम है और यदि वही व्यक्ति दो, तीन, चार; सौ, दो सौ; हजार, दस हजार; लाख; दस लाख; संख्यात, असंख्यात व अनंत जीवों की हत्या करे तो इस मानवकृत न्यायालय के पास उसे अनन्तगुणी सजा देने की क्या व्यवस्था है? कुछ भी नहीं; पर प्रकृति में ऐसा अन्याय नहीं हो सकता। अतः प्रकृति के पास तो इसकी न्यायोचित्त व्यवस्था होनी ही चाहिए। वस, उसी व्यवस्था का नाम है नरक व निगोदवास; जहाँ अनन्त काल तक निरंतर मरने का दुःख भोगना पड़ता है।

इसप्रकार इन खोटे ध्यानों का स्वरूप और फल जानकर इनसे बचें - इस मंगल भावना के साथ आज की बात यहीं पूरी होती है, शेष कल।"

अज्ञान अन्धकार में पड़े सभी श्रोताओं के लिये धर्मेश सम्यग्ज्ञान सूर्य साबित हो रहा था। आज उसने जो-जो आर्त-रौद्र ध्यान पर प्रकाश डाला था; उस प्रकाश पुंज से श्रोताओं के हृदय कमल की कली-कली खिल उठी थी। सभी श्रोता प्रवचन की विषयवस्तु पर विचार करने के लिये विवश हो गये थे।

घरों की ओर जाते हुये रास्ते में जहाँ देखो वहीं झुण्डों में खड़े लोग प्रवचन में चर्चित विषय की ही चर्चा करते दिखाई दे रहे थे।

अपने समूह में खड़ा एक कह रहा था - "देखो! हम अपने [illegible] करने के लिए किसी भी व्यक्ति को अपने वचन बाण का [illegible] मजाक उड़ाया करते हैं, किसी की टीका-टिप्पणी [illegible] आदतों के लिए कोसते रहते। चाहे जिसको [illegible] उसकी बुराई-भलाई किया करते और ऐसा [illegible]

अभी तक हमें पता ही नहीं था कि इन [illegible] हम ऐसा क्यों करते ?

भाई ! हमें अब संकल्प करना चाहिए कि [illegible] ही किया करेंगे, ताकि कम से कम [illegible]

समूह में खड़े सभी लोग उसकी [illegible] हिलाकर स्वीकार कर रहे थे कि तुम [illegible] सबका भला है।

इसतरह धर्मेश की धर्मामृत [illegible] रहने के संकल्प करते हुये अपने-[illegible]

२८

हृदयतंत्री को झंकृत कर देनेवाले आर्तध्यान-रौद्रध्यान पर हुए धर्मेश के प्रवचनों से श्रोताओं पर जो अमिट प्रभाव पड़ा, उसे देख एकबार तो सबके मनों में 'निमित्तों की अकिंचित्करता' जैसे अटल सिद्धान्त पर भी प्रश्नचिह्न लग ही गया।

अनायास ही अमित के मुँह से निकला - "अरे ! यह कैसा अकिंचित्कर निमित्त है, जिसने मेरे और मुझ जैसे अनेकों नास्तिकों के हृदयों को भी हिला दिया ? यदि **निमित्त सचमुच अकिंचित्कर ही होते हैं और एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कुछ भी नहीं करता, दोनों में अत्यन्ताभाव पड़ा है,** तो फिर हम यह क्या देख रहे हैं, जो उस वाणी का जादुई असर हमारे हृदयों पर हो रहा है ? हमारी आँखों के सामने देखते-देखते धर्मेश के उपदेशों से लाखों लोगों के जीवन बदल गये हैं, लोगों की आत्मा में आस्था उत्पन्न हो रही है और अनेकों ने अहिंसा का मार्ग अपना लिया है, अन्याय-अनीति, अभक्ष्य-भक्षण से मुख मोड़ लिया है।

धर्मेश के निमित्त से इतना बड़ा परिवर्तन ? निश्चय ही यह एक चमत्कारिक काम है। इसके लिए उसकी जितनी प्रशंसा की जाये, कम है। जो भी सुनता है, वही चुम्बकीय आकर्षण की तरह सहज ही खिंचा चला आता है "

अमित मन ही मन सोचता है - यह सब यों ही अंधभक्ति से नहीं हो रहा है। धर्मेश धर्म का मर्म खोलने और धर्म सम्बन्धी मिथ्या मान्यता के भ्रम को मेटने में माहिर भी हो गया है। वह निमित्तों की अकिंचित्करता को भी सहज निमित्त-नैमित्तिक संबंध सिद्ध करके समझा देता है। यह बात सच है कि मेरी बुद्धि में अभी तक उसकी ये आध्यात्मिक बातें पूरी तरह बैठ नहीं पाईं; पर यह निश्चित रूप से मेरी ही कोई कमजोरी है, जिसे मुझे स्वयं समझना होगा।

धर्मेश के प्रवचन सुनकर उनके श्रोताओं की स्थिति प्रसिद्ध कृष्ण भक्त कवियत्री मीरा जैसी हो रही थी, जिसने राज-पाट तथा पति आदि सबका मोह त्यागकर मेरे तो गिरधर गोपाल, दूसरो न कोई कहकर केवल कृष्ण को ही अपने मन में प्रतिष्ठित कर लिया था।

भले ही धर्मेश द्वारा श्रोताओं की शिक्षा-दीक्षा विधिवत् किसी गुरुकुल में गुरु-शिष्य के रूप में नहीं हुई थी; फिर भी उन्होंने धर्मेश को अपने मन में ज्ञानगुरु के रूप में प्रतिष्ठित तो कर ही लिया था।

श्रद्धा का स्वरूप ही कुछ ऐसा है जो गुणों को ही महत्व देती है, छोटी-बड़ी उम्र नहीं देखती।

जब धर्मेश ने चौबीसों घण्टे हो रहे आर्त-रौद्र परिणामों का लेखा-जोखा प्रस्तुत किया तो अधिकांश लोगों के तो रोंगटे खड़े हो गये।

एक ने कहा - "हमें तो ऐसा लगता ही नहीं था कि न्यूजपेपर पढ़ने में भी पाप होता है, हँसने-खेलने में, रोने-बिलखने में, प्रलाप करने में भी कोई पाप होता है। यह तो अब पता चला कि इस तरह विषयों में आनन्द मानना मनाना तो सबसे बड़ा परिग्रहानंदी या विषयानंदी रौद्रध्यान है, जिसका फल नरकगति है और रोना-बिलखना आर्तध्यान है, जिसका फल तिर्यंचगति है।"

दूसरा वयोवृद्ध व्यक्ति बोला - "अब क्या करें? कैसे बचें इस पापप्रवृत्ति से? अबतक पता नहीं था, सो अनजाने में जो हुआ सो तो हो ही चुका है; पर अब जानबूझकर मक्खी तो नहीं निगली जा सकती।"

वैसे तो सभी प्रभावित थे; पर सम्पत सेठ, भूतपूर्व जागीरदार [illegible], अमित और लाभानन्द विशेष प्रभाव में थे। आज वे [illegible] बजे के बजाय पौने सात बजे ही ज्ञानगोष्ठी के कार्यक्रम में आ बैठे थे। सभी मौन और चिंतन की मुद्रा में बैठे थे। ऐसा लगता था, मानो ये लोग कल के रौद्रध्यान पर हुए प्रवचन से आतंकित हों और सोच रहे हों कि गुरुजी के कथन के अनुसार तो हममें से एक भी नहीं है, जिसे किसी न किसी रूप में यह रौद्रध्यान न होता हो।

कुछ उद्योग-धंधों से जुड़े लोग हैं, तो कुछ [illegible] से जुड़े हैं। [illegible] हैं जो अपनी आदतों से मजबूर होकर बिना प्रयोजन ही रौद्रध्यान करते हैं

सम्पत सेठ गोष्ठी में चिंतन मुद्रा में बैठे-बैठे कल के प्रवचन के बारे में सोच रहे थे - धर्मेश ने मेरी तो आँखें ही खोल दीं हैं। अन्यथा मुझे तो सातवें नरक में भी जगह नहीं मिलती; क्योंकि मैं तो ऐसा विषयान्ध हो गया था कि भोगोपभोग-सामग्री को अर्जित करने और उसका उपभोग करने के सिवाय मुझे और कुछ दीखता ही नहीं था। दिन-रात इसी एक ही उधेड़-बुन में लगा रहता था कि न्याय-अन्याय से, झूठ-सच बोलकर - जैसे भी संभव हो, अधिक से अधिक धन संग्रह करना और उसे यश कमाने व सुख-सुविधायें जुटाने में खर्च करना। इसके लिए तस्करी करनी पड़ी तो उसमें भी मैं पीछे नहीं रहा। हिंसा का सहारा भी मैंने लिया और सफलता पर फूला नहीं समाया।

इसप्रकार मैंने तो सबसे अधिक हिंसानन्दी, मृषानन्दी, चौर्यानन्दी एवं परिग्रहानन्दी रौद्रध्यान ही किया है। अब मेरा क्या होगा ? कैसे छुटकारा मिलेगा इन पापों से ?

इसी बीच धर्मेश ने सम्पत सेठ का ध्यान भंग करते हुए कहा - "कहो सेठ ! क्या सोच रहे हो ? कल की बात कुछ समझ में आई या माथे के ऊपर से यों ही निकल गई ?"

सम्पत सेठ धर्मेश के मुख से अपना नाम सुनकर पहले तो सकपका गया, फिर माथे का पसीना पोंछते हुए हाथ जोड़कर बोला - "गुरुजी ! आप बिल्कुल सत्य फरमाते हैं। मैं बैठा-बैठा यही सोच रहा था। आप तो ब्रह्मज्ञानी से लगते हैं। आपने मेरे मनोगत भावों को कैसे पहचान लिया ? कल के प्रवचन में तो आपने मेरे ही सारे पापों को हथेली पर रखे आँवले की भाँति उजागर करके मेरे ऊपर बड़ा भारी उपकार किया है। मुझे ऐसा लग रहा था, मानो मेरे लिए ही आपका पूरा प्रवचन हो रहा हो। अब आप मुझे इनसे बचने का भी कोई उपाय अवश्य बताइए। इसके लिए मैं आपका चिर-ऋणी रहूँगा।"

मुस्कराते हुए धर्मेश ने कहा - "धैर्य रखो सेठ ! क्रम-क्रम से सब बात आयेगी। जिनवाणी में सब-कुछ है, जिनवाणी माता के ही हम सब पर अनन्त उपकार हैं।

भाई ! दिगम्बर आचार्य कोई गजब काम कर गये हैं, वे हम सब पर अपरिमित उपकार कर गये हैं। हम तो उनके दासानुदास हैं। उनका जितना भी गुणगान किया जाय, कम ही पड़ेगा।''

सम्पत सेठ की बात सुनकर मनमोहन में भी हिम्मत आ गई। उसने सोचा - मैं भी क्यों न अपनी भूल को मेटने के लिए, अपने पापों का प्रायश्चित्त करने के लिए धर्मेश के सामने अपने पेट का पाप कहकर हल्का हो जाऊँ ? क्यों न अपने मन का बोझा कम कर लूँ ?

जो भाव हुए हैं, सो तो हुए ही हैं। इन्हें छिपाये रखने का भाव भी एक अपराध ही है और फिर माता-पिता और गुरुजनों से तो कभी कुछ भी नहीं छिपाना चाहिए।

मन ही मन यह विचार कर मनमोहन ने कहा - ''गुरुजी ! मैं तो आपके उपकार से कृतार्थ ही हो गया हूँ। मुझे बचपन में शिकार खेलने का बहुत शौक था। क्या बताऊँ गुरुजी ! मैं थोड़े ही समय में ऐसा निशानेबाज बन गया था कि मुझसे जीवन में एक भी निशाना नहीं चूका होगा। न जाने कितने मूक प्राणियों के प्राण लिए होंगे मैंने। मैं सचमुच बड़ा पापी हूँ।

घुड़सवारी तो ऐसी करता था कि घोड़ा भले ही दौड़ता-दौड़ता फेन डालने लगे, गिरे पड़े, मरे; पर मुझे उसमें इतना आनंद आता कि मैं घण्टों घोड़े को दौड़ाता ही रहता।

पशु-पक्षी लड़ाने में भी मुझे भारी मजा आता। भले ही चोंचें लड़ाते समय, माथे से माथा भिड़ाते समय, मुक्केबाजी करते एवं एक-दूसरे को गिराते समय वे घायल हो जायें, उनकी हड्डियाँ टूट जायें, मरणासन्न हो जायें; तो भी मैं उनकी परवाह किए बिना ही अपना भरपूर मनोरंजन किया करता। इसीतरह और क्या-क्या कहूँ ? कहने में शर्म आती है; पर कहे बिना प्रायश्चित्त नहीं होगा, मेरा मन हल्का नहीं होगा। अत: कह रहा हूँ।

भाई धर्मेश ! मैं जवानी के जोश में होश खो बैठा था। नगर की रूपवती कन्याओं और कुलांगनाओं का मनमाने ढंग से शोषण करना और उन्हें रोता-बिलखता छोड़ देना तो मेरे लिए मनोरंजन का कार्य था। जबतक जागीरदारी

रही, जागीरदारी का प्रभाव रहा; तबतक मैंने ये सब पाप किए, सचमुच इसी स्थिति में मरण हुआ तो शायद सातवाँ नरक भी मेरे लिए कम ही पड़ेगा !

आपने जो कुछ वर्णन किया, उससे मुझे ऐसा लगा; मानो आपने मेरे जीवन में झांक कर ही यह सब कहा है। जब आप यह सब जानते हैं तो इन पापों से छुटकारा दिलाने का उपाय भी जानते ही होंगे। वह भी बताइये न। आप प्रायश्चित्तस्वरूप जो भी दण्ड देंगे, आदेश देंगे; वह हमारे सिर माथे होगा। हम आपका यह उपकार कभी नहीं भूलेंगे।"

धर्मेश मनमोहन की पापपंक में आकंठ निमग्न जीवन गाथा को सुनकर बहुत दु:खी हुआ। लम्बी सांस लेते हुए उसने कहा - "खैर ! कोई बात नहीं, पापी तो थोड़े बहुत अंशों में सभी होते ही हैं। मिथ्यात्व के फल में यह नहीं होगा तो और क्या होगा ? पर तुम्हारे जीवन में पापाचरण की कुछ अति ही रही। अस्तु: जो भी हुआ, अब उसे तो भूलना ही होगा। भविष्य में पुनरावृत्ति न हो, एतदर्थ देव-शास्त्र-गुरु की शरण ही इसका एकमात्र उपाय है। अत: सच्चे देव-शास्त्र-गुरु के स्वरूप को समझकर तदनुसार आचरण करने की कोशिश करना। सब ठीक हो जायेगा। घबराने की कोई बात नहीं है।"

मनमोहन ने नतमस्तक हो धर्मेश की बातों को शिरोधार्य किया और सदैव उसके सान्निध्य में रहने का मन ही मन संकल्प कर लिया।

वहीं ज्ञानगोष्ठी में बैठा एक वकील सोच रहा था - हम वकील लोगों ने सच्चाई को झुठला-झुठला कर अपने व्यवसाय को बदनाम तो किया ही, उसके जरिए बड़े-बड़े अपराधियों को उचित दण्ड दिलाने के बजाय उन्हें दण्ड मुक्त करा कर अपराध करने के लिए प्रोत्साहित ही किया है। उनसे बड़ी-बड़ी फीस के सौदे करके, लाखों रुपए लेकर लखपति बनने के स्वप्न साकार करके मन ही मन खूब प्रसन्न भी हुए हैं। इस तरह मैं भी हिंसा-झूठ-चोरी व्यभिचार और परिग्रह आदि सभी पापों को प्रोत्साहन देकर प्रसन्न हुआ हूँ। यह भी तो रौद्रध्यान है, जो नरक-निगोद का कारण है। अत: धर्मेशजी से इससे छुटकारा पाने का उपाय तो समझना ही है और जो भी बातें वे बतायें, उन्हें भी दृढ़ संकल्प के साथ अपने जीवन में उतारना है। सुखी होने का इसके

सिवाय अन्य तो कोई उपाय ही नहीं है। सचमुच मैंने अपने [illegible] यों ही धनसंग्रह में बर्बाद कर दिया। न केवल जीवन बर्बाद ही किया, [illegible] पापकार्यों में दुरुपयोग भी किया है। ऐसा निश्चय करके उस [illegible] ने भी धर्मेश से निवेदन किया - "भाईजी! आप इन पापों का [illegible] और इनसे बचने का उपाय भी बतायें।"

समस्त सेठ, मनमोहन एवं अन्य सभी श्रोताओं का समर्थन [illegible] दिया। हाँ, हाँ; गुरुजी! हम सबकी भी लगभग यही स्थिति है।

वहीं बैठे एक नेताजी बोले - "हमारा ही क्या आज पूरा देश इसी स्थिति से गुजर रहा है, सभी इन्हीं आर्त और रौद्रध्यानों में ही आकंठ निमग्न हैं। यह बात जुदी है कि लोगों को यह पता नहीं है कि ये भाव इतने खतरनाक हैं, नरक निगोद के कारण हैं। इसकारण सभी का यों ही जीवन बर्बाद हो रहा है। अब आप के सद्प्रयास से जब यह पता चल ही गया है तो अब इनसे बचने का मार्गदर्शन भी तो प्राप्त होना ही चाहिए।

अतः अब कल से इन्हीं खोटे ध्यानों से बचने के उपायों पर विस्तार से समझाने की कृपा करिए। ताकि हम लोग इस संसार-सागर का किनारा पा सकें। जो भी आप बतायेंगे, हम तो उससे लाभान्वित होंगे ही, हम उस बात को जन-जन तक पहुँचाने का भी पूरा-पूरा प्रयास करेंगे।"

लोगों की रुचि एवं जिज्ञासा को ध्यान में रखते हुए धर्मेश ने सबको आश्वस्त किया - "भाई! जिनवाणी में सब-कुछ भरा पड़ा है, देखने की दृष्टि चाहिए तथा समझने के लिए थोड़ा समय और तीव्र रुचि की आवश्यकता है। मैं भी कोशिश करूँगा और आप लोग भी थोड़ा-थोड़ा प्रयास करिए, कठिन कुछ भी नहीं है। दिशा बदलते ही दशा भी बदल जाती है।

कल से धर्मध्यान के स्वरूप के आधार पर आप लोगों की जिज्ञासा को शांत करने की कोशिश करेंगे। आप लोगों को समझने का एवं हमें समझाने का भाव बन रहा है। इससे मालूम पड़ता है कि इस काम के संपन्न होने की काललब्धि आ गई है व होनहार भी भली लगती है। सभी ओर से पात्रता दिखती है, अतः आप लोग निश्चिंत रहें।" - इस आश्वासन के साथ गोष्ठी समाप्त हो गई। —•

२१

सूर्य चारों ओर अपनी लाली समेटता द्रुतगति से अस्ताचल की ओर बढ़ रहा था। गोधूली का समय, धूल उड़ाती गायें अपने बछड़ों की याद में दौड़ी-दौड़ी घर की ओर बढ़ रहीं थीं।

यही समय जिनेशचन्द्र शिक्षण-संस्थानवासियों के घूमने-फिरने का होता था। सायंकालीन भोजन से निवृत्त होकर अधिकांश भाई-बहिन भोजन करके अपने-अपने समूहों के साथ टहलने जाया करते थे।

सुनन्दा, सुनयना, विजया, अमित, मनमोहन और धर्मेश सेठ परस्पर परिचित और रिश्तेदार होने से शिक्षण-संस्थान के विश्रान्तिगृह में पास-पास ही ठहरे थे और साथ ही साथ प्रतिदिन घूमने-फिरने एक उपवन में जाया करते थे। वहाँ आधा-पौन घण्टे शान्त व एकान्त वातावरण में बैठकर धर्मेश के प्रवचन में आये महत्त्वपूर्ण मुद्दों पर परस्पर चर्चा-वार्ता किया करते थे।

विगत दो दिनों से प्रवचनों में आर्त-रौद्र ध्यान का स्वरूप एवं उनके दुष्परिणामों की दर्दभरी चर्चा सुनकर उनके पाँव तले की जमीन खिसकने लगी थी। उन सबकी आँखें तो आर्त हो ही रहीं थीं, प्रत्येक का हृदय भी धड़कने लगा था। सभी के मन बोझिल हो रहे थे।

अमित ने साहस करके मुँह खोला और बात प्रारम्भ करते हुए कहा - ''मनमोहन ! देखो, इन आर्त-रौद्र जैसे खोटे भावों में हम लोग इस समय आकंठ निमग्न हो रहे हैं, भविष्य में इनसे बचने का उपाय और पिछले पापों से छुटकारा पाने की विधि तो खोजनी ही होगी; अन्यथा जब हाथ से बाजी निकल जायेगी, तब अन्त समय में क्या होगा ?''

इतना सुनते ही सुनन्दा का तो [illegible] हो गया, सुनन्दा भी फूट-फूट कर रो पड़ी। माँ त्रिशला किंकर्तव्यविमूढ़ सी [illegible] ताकती रहीं; क्योंकि सभी किसी-न-किसी रूप में इन खोटे ध्यानों में आकंठ डूबे हुए थे।

सम्पत सेठ के मुँह से निकला - "ओह ! हमें तो इन बातों की खबर ही नहीं थी। हम तो प्राप्त पुण्यकर्म के फल में ऐसे मस्त हो रहे थे कि मानो हमें स्वर्गों की निधियाँ मिल गई हों; पर ये तो हमें नरक में पहुँचाने के साधन सिद्ध हो रहे हैं।

ये संपत्तियाँ तो चारों ओर से विपत्तियाँ बनकर हमारे माथों पर मधुमक्खियाँ-सी मंडरा रही हैं, जो डंक मार-मारकर सुजा-फुला देंगी, मरणासन्न कर देंगी।

धर्मेशजी के कहे अनुसार इनसे बचने का एकमात्र उपाय सम्यग्ज्ञान के सागर में डूब जाना ही है, अन्यथा ये पीछा छोड़नेवाली नहीं हैं।"

अमित ने भी सम्पत सेठ की हाँ में हाँ मिलाई। सबने निश्चय किया - "आज तो धर्मेशजी से इन पाप भावों से बचने के उपायों पर ही प्रवचन करने का निवेदन करेंगे।"

सम्पत सेठ ने धर्मेश से निवेदन किया - "गुरुजी ! आपने जो [illegible] ध्यानों के बारे में विस्तार से विवेचन किया, तदनुसार तो हमारा [illegible] ही इन पाप भावों में आकंठ निमग्न हो रहा है। अमित, सुनन्दा [illegible] तो दिन-रात आँसू ही बहाया करते हैं। हमें आप इस [illegible] का उपाय शीघ्र बताइए।"

धर्मेश ने सोचा - वैसे तो [illegible] ही चर्चा करना अभीष्ट है; परन्तु [illegible] चर्चा करना अधिक उपयुक्त [illegible] कष्टों के हरे-भरे [illegible] ध्यान की चर्चा [illegible]

ऐसा विचार कर धर्मेश ने कहा – ''मूलत: कोई भी वस्तु या व्यक्ति अपने आप में न इष्ट है न अनिष्ट है; क्योंकि जिनके अज्ञान व राग-द्वेष समाप्त हो जाते हैं, उन अरहंत व सिद्ध भगवन्तों के शब्द-कोष में इष्ट-अनिष्ट शब्द ही नहीं होते। इसी से सिद्ध है कि – ये 'इष्ट-अनिष्ट' शब्द मात्र अज्ञान व राग-द्वेष की ही उपज हैं। राग-द्वेष सापेक्ष ही इनका अस्तित्व है। ये मोह-राग-द्वेष के ही परिचायक हैं। मोह-राग-द्वेष के अभाव में इनका भी अस्तित्व नहीं रहता।

इष्टानिष्ट कल्पना व मोह-राग-द्वेष का परस्पर ऐसा घना संबंध है कि जहाँ मोह-राग-द्वेष होते हैं, वहाँ इष्टानिष्ट कल्पना होती ही है और जहाँ इष्ट-अनिष्ट कल्पना होती है, वहाँ मोह-राग-द्वेष भी होते ही हैं।

तत्त्वज्ञान के अभ्यास के बल से जब परपदार्थ इष्ट व अनिष्ट भासित ही नहीं होते तो मुख्यत: राग-द्वेष व कषायें उत्पन्न ही नहीं होतीं। अपना कर्त्तव्य तो केवल तत्त्वाभ्यास करना ही है। इसी के बल से आर्त-रौद्रध्यान का प्रभाव कम होते-होते क्रमश: अभाव होगा और धर्मध्यान का प्रारंभ होगा। क्रमश: शुक्लध्यान में परिणित होकर आत्मा परमात्मा बन जायेगा।

एक बहुत बड़े दार्शनिक ने लिखा है कि '**कषायभाव पदार्थों के इष्टानिष्ट मानने पर होते हैं और कोई पदार्थ इष्टानिष्ट है नहीं; अत: पदार्थों को इष्ट-अनिष्ट मानना ही मिथ्या है। लोक में सर्वपदार्थ अपने-अपने स्वभाव के ही कर्त्ता हैं, कोई किसी को सुखदायक-दु:खदायक, [illegible]-अनुपकारी है नहीं। यह जीव ही अपने परिणामों में उन्हें सुखदायक-उपकारी मानकर इष्ट जानता है अथवा दु:खदायक अनुपकारी जानकर अनिष्ट मानता है, क्योंकि एक ही पदार्थ किसी को इष्ट लगता है, किसी को अनिष्ट लगता है। जैसे वर्षा किसी को इष्ट लगती है किसी को अनिष्ट।**......

माली चाहे बरसना, धोबी चाहे धुप्प।
साहू चाहे बोलना, चोर चाहे चुप्प॥

एक व्यक्ति को भी एक ही पदार्थ किसी काल में इष्ट लगता है, किसी काल में अनिष्ट लगता है तथा व्यक्ति जिसे मुख्य रूप से इष्ट मानता है, वह भी अनिष्ट होता देखा जाता है। जैसे शरीर इष्ट है, परंतु रोगादि सहित हो तो अनिष्ट हो जाता है तथा जैसे मुख्य रूप से गाली अनिष्ट लगती है, परंतु ससुराल में इष्ट लगती है।

इसप्रकार पदार्थों में इष्ट-अनिष्टपना नहीं है। यदि पदार्थों में इष्ट-अनिष्टपना होता तो जो पदार्थ इष्ट होता, वह सभी को इष्ट ही होता और जो अनिष्ट होता, वह सभी को अनिष्ट ही होता; परंतु ऐसा है नहीं। यह जीव कल्पना द्वारा उन्हें इष्ट-अनिष्ट मानता है सो यह कल्पना झूठी है।'

इस कथन से यह सिद्ध हुआ कि पदार्थों को इष्ट-अनिष्ट मानकर उनमें राग-द्वेष करना मिथ्या है।

देखो, भाई ! दुःखी होने से काम नहीं चलेगा। प्रत्येक कार्य में सफलता प्राप्त करने की एक विधि होती है। उसे अपनाना पड़ेगा।

आचार्य अमृतचन्द्र का कहना है - प्रथम शास्त्र स्वाध्याय द्वारा अपने ज्ञान स्वभावी भगवान आत्मा का निश्चय करो कि मैं कौन हूँ, मेरा क्या स्वरूप है ? फिर पर की प्रसिद्धि की हेतुभूत जो इन्द्रियाँ हैं, उन पर से अपने उपयोग को हटा कर आत्मसम्मुख करने का प्रयास करो। एतदर्थ कर्त्ता-कर्म के भार से निर्भार होना होगा, अतः जैनदर्शन के मूल सिद्धान्त क्रमबद्धपर्याय, कारण-कार्य व्यवस्था, वस्तुस्वातंत्र्य, कर्मसिद्धान्त में पुण्य-पाप मीमांसा को समझे तो धीरे-धीरे सब काम ठीक हो जायेगा। शेष फिर ।''

प्रवचन का समय पूरा हुआ। जिनवाणी स्तुति के पश्चात् सभी लोग अपने-अपने आवास की ओर प्रस्थान करने लगे।



आर्त-रौद्र ध्यानों पर हुए धर्मेश के प्रेरणाप्रद प्रवचनों से जो वैराग्यवर्द्धक वातावरण बना, उससे सहज ही सबकी समझ में आ रहा था कि यह चर्चा कितनी आवश्यक थी, कितनी उपयोगी थी।

सभी श्रोता यह महसूस कर रहे थे कि धर्मेश द्वारा एकदम सही समय पर सही बात का बहुत ही सही ढंग से प्रतिपादन हुआ है। मानो प्यासी धरती को, सूखती कृषि को सही समय पर मेघ-वर्षा प्राप्त हो गई है।

बिना खाद-पानी दिए और बिना बीज बोए ही उगने एवं बे-शुमार बढ़ने वाली बेशरम (खरपतवार) की झाड़ियों की भाँति दुःखद आर्त-रौद्र रूप पाप भावों की विषैली झाड़ियों से सभी परेशान थे। उन्हें जड़-मूल से उखाड़ने और जलाकर भस्म करने हेतु धर्मध्यानाग्नि को प्रज्वलित करनेवाले तूफान की प्रतीक्षा सभी को थी, जो उन्हें धर्मेश के रूप में प्राप्त हो गया था।

अब सभी श्रोताओं की मानस-भूमि धर्मध्यान का बीज बोने के योग्य बन चुकी थी। सभी लोग धर्मध्यान का स्वरूप और ध्यान करने की प्रक्रिया जानने के लिए आतुर थे, उत्सुक थे।

धर्मेश का प्रवचन प्रारंभ हुआ। धर्मध्यान का सामान्य परिचय कराते हुये उन्होंने कहा -

"धर्म वस्तुत: वीतरागभावरूप है, राग में किंचित् भी धर्म नहीं। अत: धर्मध्यान के लिए सर्वप्रथम परम वीतरागी अरहंत व सिद्ध भगवन्तों का एवं वीतरागता की पोषक जिनवाणी का अवलम्बन लेना अनिवार्य है। इनके अवलम्बन से ही जैनदर्शन के मूलभूत सिद्धान्त सर्वज्ञता, वस्तुस्वातंत्र्य, छहद्रव्य, साततत्त्व, वस्तु की कारण-कार्य व्यवस्था, क्रमबद्धपर्याय, लोक-

परलोक एवं नरक-स्वर्गादि के अस्तित्त्व का ज्ञान होगा। इनके विषय में सच्ची श्रद्धा-ज्ञान विना धर्मध्यान की बात ही नहीं बनती। एतदर्थ देव-शास्त्र-गुरु की ओर पंचपरमेष्ठी की शरण में आना अनिवार्य है। यही कारण है कि इनके ध्यान को ही व्यवहार धर्मध्यान कहा गया है।

जब भी धर्मध्यान करने की बात आती है तो प्राय: हमारा ध्यान किसी क्रिया विशेष की ओर ही जाता है। इसके साधन के रूप में आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार और स्थानविशेष की ओर ही हमारा ध्यान जाता है। पर ये सब धर्मध्यान के मूलभूत साधन नहीं हैं, क्योंकि इनसे आत्मलाभ नहीं होता।

जिसने आजतक कभी आत्मा-परमात्मा को देखा-जाना ही न हो, वह आत्मा-परमात्मा को कैसे याद करे ? कैसे स्मरण करे ? स्मरण तो दर्शनपूर्वक ही होता है न ? जिसे कभी देखा ही न हो, उसका स्मरण कैसे आ सकता है ?

अत: धर्मध्यान के पहले आत्मा का ज्ञान एवं स्व-पर भेदविज्ञान अनिवार्य है। ध्यान-ध्याता-ध्येय, ज्ञान-ज्ञाता-ज्ञेय का ज्ञान आवश्यक है। प्रत्येक कार्य के जो अपने-अपने स्वतंत्र षट्कारक हैं, उन षट्कारकों की स्वतंत्रता की सही जानकारी जरूरी है; क्योंकि इनके बिना अज्ञानी जीवों को जबतक पर के कर्तृत्त्व का बोझ बना रहेगा, तबतक अन्तर में प्रवेश नहीं होगा।

वस्तुत: ध्यान किया नहीं जाता, वह तो हो जाता है। ध्यान तो ऐसी सहज क्रिया है, जो स्वत: ही सम्पन्न होती है। जिसप्रकार आर्त-रौद्र ध्यान कोई सोच-सोच कर नहीं करता; जब पर में इष्ट-अनिष्ट कल्पना होती है तो इष्टवियोगज-अनिष्टसंयोगज आर्तध्यान स्वत: ही सोते-जागते, उठते-बैठते, चलते-फिरते, खाते-पीते होते ही रहते हैं; उसीतरह जैनदर्शन के सिद्धान्तों की श्रद्धा हो जाने से, स्व-पर भेदज्ञान हो जाने से, अनुप्रेक्षा आदि के चिंतन द्वारा ज्ञान-वैराग्य शक्ति प्रगट हो जाने से धर्मध्यान भी स्वत: होने लगता है। प्रयत्न भी सहज उसी दिशा में होने लगते हैं, निमित्त भी सब तदनुकूल मिल ही जाते हैं, निमित्तों को खोजना नहीं पड़ता।

लोक भाषा में 'ध्यान' शब्द का प्रयोग अनेक तरह से होता है; पर उसका अर्थ लगभग सब जगह एक जैसा ही होता है। जैसाकि - 'कृपया ध्यान दीजिए', 'ध्यान रहे, आपको समय पर पधारना है'; 'यह बात ध्यान देने योग्य है' आदि।

अध्यात्म की भाषा एवं परिभाषाओं में यह 'ध्यान' शब्द विभिन्न विशेषणों के साथ विभिन्न अर्थों में भी प्रयुक्त हुआ है। जैसे आर्तध्यान, रौद्रध्यान, धर्मध्यान एवं शुक्लध्यान आदि। पर जहाँ अकेला 'ध्यान' शब्द आया है, वहाँ इसका अर्थ लगभग सब जगह धर्मध्यान ही किया है।

व्यवहार की भाषा में मिथ्यादृष्टि की धार्मिक क्रियाओं और शुभभावों को देख उन्हें भी धर्मात्मा, धर्म-ध्यानी एवं ज्ञानी-ध्यानी कह दिया जाता है; परंतु वस्तुतः सम्यग्दृष्टियों को ही धर्मध्यान होता है, मिथ्यादृष्टियों को नहीं।

देखो, लोक में जिस तरह 'गो' शब्द के अनेक अर्थ हैं, पर वह गाय के अर्थ में ही रूढ़ है, प्रचलित है। 'पूजा' शब्द बहुत व्यापक है, भगवान को हाथ जोड़कर नमस्कार करना, साष्टांग प्रणाम करना, प्रदक्षिणा देना, स्तुति बोलना, सूखा अर्घ चढ़ाना आदि उक्त सभी क्रियायें पूजा हैं; परंतु लोक में पूजा उस क्रिया विशेष को ही माना जाता है, जिसमें स्नान कर, धुले वस्त्र पहनकर, धुले हुए अष्टद्रव्य से जो पूजा की जाती है। उसी अर्थ में 'पूजा' शब्द रूढ़ हो गया है। इस कारण लोक में उसे ही पूजा करना कहते हैं। अन्य नमस्कार आदि क्रियाओं को पूजा नहीं माना जाता; जबकि ये सब क्रियायें भी पूजा ही हैं।

'पुजारी' शब्द सवैतनिक कर्मचारी के अर्थ में रूढ़ हो गया है। किसी नियमित पूजा करनेवाले सेठ को यदि भूलकर भी 'पुजारी' कह दिया तो महाभारत मच जायेगा; जबकि वह सेठ ही वास्तविक पुजारी है।

इसीप्रकार 'ध्यान' शब्द भी धर्मध्यान के अर्थ में रूढ़ है, प्रचलित है। जिनवाणी में भी ऐसे प्रयोग मिलते हैं। अतः ध्यान का विषय वस्तुतः ध्यान देने योग्य है, ध्यान से समझने योग्य है।

आर्त-रौद्रभाव भी तो ध्यान ही हैं; पर जिसप्रकार ध्यान के साथ आर्त-रौद्र विशेषण लगाये जाते हैं, वैसे व्यवहार भाषा में धर्मध्यान के साथ सभी जगह 'धर्म' विशेषण नहीं लगाया जाता। ज्ञानार्णव ग्रन्थ के अनेक श्लोक इसके साक्षी हैं।

ज्ञानार्णव के और भी अनेक श्लोकों द्वारा आचार्यदेव ने 'ध्यान' अर्थात् धर्मध्यान करने की प्रेरणा दी है। उन सब में भी केवल 'ध्यान' शब्द का ही प्रयोग किया है; जो मूलत: पठनीय है।

अत: जहाँ जिस अपेक्षा 'ध्यान' शब्द का प्रयोग हुआ हो, उसका वैसा ही अर्थ ग्रहण करना चाहिए। धर्मध्यान पर आवश्यकतानुसार बल देते हुए आचार्य योगीन्द्रदेव 'ध्यान' शब्द का उपयोग करते हुए कहते हैं –

संसार के क्लेशों का नाश करने के लिए ज्ञानरूपी अमृत का पान करो। तथा जन्म-मरणरूप संसार-सागर से पार होने के लिए ध्यानरूपी जहाज का अवलम्बन करो।[१]

जिनवाणी में धर्मध्यान की विस्तृत चर्चा है, जिसे जानना जरूरी है। आज तो धर्मध्यान से संबंधित कुछ सामान्य बातों पर ही चर्चा की। कल इस धर्मध्यान के स्वरूप, भेद-प्रभेद, धर्मध्यान करने की विधि और उसके फल पर विचार करेंगे, जो आर्तध्यान-रौद्रध्यान से बचने में हमें सहायक होगा।"

आज की इस चर्चा से भी श्रोताओं को बहुत-सी नवीन जानकारी मिली। अत: सभी लोग प्रसन्न थे। शेष जानकारी कल मिलेगी, इस आशय से श्रोता अभी से कल की प्रतीक्षा करने लगे। •

---

१. "भव क्लेश विनाशाय पिव ज्ञान सुधाकरम् ।
[illegible] जन्माब्धि मत्येतु, ध्यान पोतावलम्बनम् ॥" (१२) (सर्ग २)

३१

सुहावना मौसम था, ठंडी-ठंडी बयार बह रही थी, चिड़ियाँ चहकने-फुदकने लगीं थीं, मुर्गे बाँग भर-भर कर सवेरा होने का संदेश सुना रहे थे; मानो जगत के जीवों को जगाने का उत्तरदायित्व प्रकृति द्वारा इन्हीं को सौंपा गया हो। कृत्रिम घड़ियों के अलार्म धोखा दे सकते हैं, बजें न बजें; पर मुर्गे समय पर बाँग देने से नहीं चूकते। मानव चाहे तो मुर्गों से स्वयं समय पर जगने और दूसरों को मोहनींद से जगाने का सबक सीख सकता है।

आजकल नैसर्गिक नियमों के पालन करने में सचमुच मानव पशुओं से पीछे होता जा रहा है। पशु-पक्षी कभी भी अपने प्राकृतिक नियमों का लोप नहीं करते और आज का युवक अपने खान-पान और सोने-जागने में प्राकृतिक नियमों का बिल्कुल भी पालन नहीं करता।

मुर्गों की 'कुकड़ूं कूँ… कुकड़ूं कूँ …' सुनकर जो जाग गये, उनमें से कुछ ज्ञान-पिपासु तो स्वाध्याय भवन में बज रहे प्रवचन कैसिट सुनने चल पड़े। ध्यानप्रेमी धर्मात्मा हाथ-पाँव धोकर एकान्त में चटाई बिछाकर ध्यान करने बैठ गये तथा स्वास्थ्यप्रेमी सज्जन प्रात:कालीन प्राणवायु का सेवन करने बाग-बगीचों की ओर निकल पड़े; पर प्रमादी प्राणी अभी भी प्रमाद में पड़े-पड़े करवटें बदल रहे थे और प्रात:कालीन मीठी-मीठी नींद को भंग करने वाले कलरव को मन ही मन कोस रहे थे।

श्वाँस रोग से पीड़ित एक वयोवृद्ध व्यक्ति बेचारा ऐसा भी था, जिसे वैद्यों की राय के अनुसार प्रात:कालीन प्राणवायु का सेवन भी अनिवार्य था और वह धर्मलाभ से भी वंचित नहीं रहना चाहता था। अत: उसने एक मध्यम मार्ग निकाल लिया था।

वह वृद्ध व्यक्ति जिनेशचन्द शिक्षा-संस्थान के पास वाले छोटे से पार्क में ही चहल-कदमी करता हुआ वैराग्यभावना और बारह भावना आदि का पाठ करके आत्मसंतुष्टि कर लिया करता।

बोलते-बोलते भावावेश में उसकी आवाज ऊँची हो जाती -

कोई इष्ट वियोगी विलखै, कोई अनिष्ट संयोगी ।
कोई दीन दरिद्री विगूचै, कोई तन का रोगी ॥
किस ही घर कलहारी नारी, कै वैरी सम भाई ।
किस ही के दुःख बाहर दीखें, किस ही उर दुचताई ॥
कोई पुत्र बिना नित झूरे, कोई मरै तब रोवै ।
खोटी संतति सों दुःख उपजै, क्यों प्राणी सुख सोवै ॥
पुण्य उदय जिनके तिनके भी, नाहिं सदा सुख-साता ।
यह जगवास जथारथ देखे, सब ही हैं दुःखदाता ॥

संसार के स्वरूप का यथार्थ चित्रण करने वाली इन पंक्तियों को बोलते हुए वह स्वयं भी भावुक हो उठता और जोर-जोर से बोलने के कारण आस-पास के मकानों के लोग खिड़कियाँ खोल-खोल कर उधर झाँकने लगते, जहाँ वह वृद्ध व्यक्ति पार्क में भावुक मन से गा रहा होता। उसे देखने-सुनने वालों की आँखें भी आँसुओं से गीली हो जातीं।

संस्थान के पास बने निजी बंगले में ठहरे सम्पत सेठ और उसके साथी अमित, सुनन्दा, सुनयना आदि ने भी वे वैराग्य भावना के बोल सुने तो उनके स्मृति-पटल पर वे शब्द चित्र सजीव होकर उभरने लगे। और उनके जीवन में घटित घटनाओं के प्रतिबिम्ब भी उनकी ध्यान-धरा पर उतर आये।

वृद्ध गाये जा रहा था -

भोग बुरे भवरोग बढ़ावें, वैरी हैं जग जी के ।
बेरस होंय विपाक समय अति, सेवत लागें नीके ॥
वज्र अगनि विष से विषधर से, ये अधिके दुःखदाई ।
धर्मरत्न के चोर प्रबल अति, दुर्गति पन्थ सहाई ॥ ...

इसी बीच फिर 'कुकड़ूं कूँ... कूँ' की आवाज आई, मानो मुर्गे सोने वालों से कह रहे थे -

उठ जाग मुसाफिर भोर भई, अब रैन कहाँ जो सोवत है ;
जो सोवत है सो खोवत है, जो जागत है सो पावत है।
उठ जाग मुसाफिर भोर भई, अब रैन कहाँ जो सोवत है।।

विराग उठा और तैयार होकर कैसिट सुनने चला गया। स्वयं को अपने अग्रज विराग से अधिक धरम-ध्यानी मानने वाले अनुराग ने हाथ-पैर धोये और चटाई एवं माला लेकर मकान की छत पर एकान्त में ध्यान करने चला गया।

विराग चाहता था कि अनुराग ने जब मेरे आग्रह को मानकर जैसे-तैसे पन्द्रह दिन का समय अपने व्यस्त जीवन में से यहाँ आने के लिए निकाला ही है तो क्यों न अधिकतम ज्ञानार्जन कर ले। कम से कम जैनदर्शन के उन मूलभूत सिद्धान्तों को तो सुन ही ले, समझ ही ले; जो उसके धर्माचरण में साधक हैं। यदि यहाँ भी उसका सर्वाधिक समय उन्हीं धार्मिक क्रियाओं में चला गया, जो उसने किसी न किसी लौकिक प्रयोजनों को पूरा करने के चक्कर में अपने माथे ले रखी हैं तो उसका यहाँ आना न आने जैसा ही रहेगा। यहाँ आने का उसे कोई लाभ नहीं होगा।

एक दिन विराग ने मौका देखकर बड़े ही मनोवैज्ञानिक ढंग से अनुराग से कहा - "अनुराग ! एक तुम हो, जो एक-एक घंटे तक ध्यान में बैठे रहते हो और एक मैं हूँ, जिसका पाँच मिनट में ही ध्यान से मन ऊब जाता है। मैं थोड़ी भी देर तक बैठने की कोशिश करूँ तो उबकाई-सी आने लगतीं हैं, जी मिचलाने लगता है, घबराहट-सी होने लगती है। मेरी समझ में नहीं आता कि 'मैं ध्यान कैसे करूँ ?' क्या तुम बताओगे कि ध्यान के समय तुम क्या करते हो, किसका ध्यान करते हो ?"

अनुराग ने सोचा - विराग भाईसाहब वर्षों से नियमित स्वाध्याय करते हैं, फिर भी मुझे अपने अन्दर की कमजोरी बताकर मुझसे यह पूछ रहे हैं। अत:

उनकी इस बात में कुछ न कुछ रहस्य अवश्य होना ही चाहिए। वे अपने मन को कहाँ लगाना चाहते हैं? और जहाँ वे अपना मन लगाना चाहते हैं, वहाँ क्यों नहीं लगता ? अस्तु! जो भी हो, उनकी वे जानें। उन्होंने जो जानना चाहा है, वह बताना मेरा कर्तव्य है। यह सोचकर अनुराग ने कहा -

"भाईसाहब ! मैं तो सर्वप्रथम १०८ बार णमोकार मंत्र का जाप करता हूँ, किसी और चक्कर में न पड़कर फिर पण्डितजी के बताये अनुसार महावीर चालीसा, पदमप्रभ चालीसा, पार्श्वनाथ स्तोत्र और भक्तामरजी का पाठ करता हूँ। बस इसी में पौन घंटा पूरा हो जाता है। जब और कुछ सोचने का समय ही नहीं रहता तो ऊबने का तो सवाल ही कहाँ है ?

विराग ने पूछा - "उन पण्डितजी का क्या नाम है ? कौन हैं, कहाँ के हैं वे, जिन्होंने तुझे यह सब विधि बताई ?"

अनुराग ने कहा - "आप शायद उन्हें नहीं जानते होंगे; पर जिन पण्डितजी ने यह बताया वे बड़े पहुँचे हुए लोगों में से हैं। उनके बारे में लोग न जाने क्या-क्या कह रहे थे ? उन्होंने तो पद्मावती स्तोत्र, मानभद्र स्तोत्र आदि और भी बहुत कुछ बताये थे, लम्बी-चौड़ी विधि भी बताई थी; पर मैंने उनसे कह दिया कि - ये सब हमारे कुलधर्म के हिसाब से नहीं चलेगा। हमारे शुद्ध आम्नाय में यह नहीं चलता। तो फिर उन्होंने मेरी बात मान ली और कहा कि - आप अपनी आम्नाय के अनुसार जितना जो चले, वैसा ही करो। बड़े सज्जन व्यक्ति थे वे, अधिक आग्रह नहीं करते किसी बात का। जैसा जिसको अनुकूल होता, वैसा ही उपाय बता देते हैं।

उनका कहना था कि - यदि हमारी बताई हुई विधि विधिपूर्वक करो तो उसका विशेष फल है। वैसे भी ये स्तोत्र रिद्धि-सिद्धि दाता तो हैं हीं, विघ्न निवारक भी हैं। अत: जितना भी संभव हो, अवश्य करते रहना। परलोक की अधिक चिन्ता नहीं करनी चाहिए, परलोक भी जितना सुधरना होगा, सुधर ही जायेगा; पर इस जन्म में जरूर कोई बड़ा संकट आप पर नहीं आयेगा। संकटमोचन भी हैं न ये सब।

उन पण्डितजी में लोभ तो नाममात्र को भी नहीं है, मुँह से तो वे किसी से कुछ माँगते ही नही। श्रद्धालु अपनी मर्जी से जो दे दे, वही सहर्ष स्वीकार कर लेते हैं। वे खुद ही बता रहे थे कि एक सेठ ने तो उन्हें बिना माँगे ही पाँच सोने के सिक्के दिए; क्योंकि पण्डितजी की बताई विधि से पद्मावती का जाप और पार्श्वनाथ स्तोत्र का पाठ करने से उन्हें व्यापार में बहुत लाभ हुआ था। और वे यह भी कह रहे थे कि लोग जब अपने आप ही भरपूर देते हैं तो हम किसी से क्यों माँगें, अधिक लोभ-लालच में क्यों पड़ें?''

अनुराग की ये बातें सुनकर विराग ने अपना माथा ठोक लिया। उस समय कहा तो कुछ नहीं, कहने लायक कुछ था भी नहीं; पर विराग ने यह निश्चय कर लिया कि किसी तरह इस चक्कर से तो इसे निकालना ही पड़ेगा, अन्यथा इसका सारा समय इसी चक्कर में यों ही गृहीत मिथ्यात्व और अप्रशस्तध्यान में चला जायेगा।

घड़ियों की सुइयाँ अपनी गति से आगे बढ़ी जा रही थीं। देखते ही देखते साढ़े सात बज गये। आश्रम के प्रांगण में चहल-पहल प्रारम्भ हो गई। आठ बजे से प्रवचन प्रारंभ होने वाला था और प्रवचन में देर से पहुँचने वालों को अच्छी नजर से नहीं देखा जाता था, इस कारण देर से जागने वालों में हड़बड़ी मच गई।

पूजन में भले कोई पहुँचे न पहुँचे या देर से पहुँचे, परमात्मा तो किसी से कुछ कहने वाले हैं नहीं, वीतरागी जो ठहरे; पर प्रवचन में समय पर न पहुँचने का अर्थ है सैंकड़ों श्रोताओं की नजरों से गिर जाना और प्रवचन की विषयवस्तु से भी वंचित रह जाना।

धर्मेशजी मुँह से भले कुछ न बोलें; पर इतना तो उनकी समझ में भी आ ही जाता कि कौन व्यक्ति तत्त्वज्ञान के प्रति कितना सजग है अथवा कितना लापरवाह है, प्रमादी है।

प्रमादियों को प्रमादी रहने में आपत्ति नहीं होती; पर प्रमादी कहलाना उन्हें भी पसन्द नहीं। अत: प्रमादी से प्रमादी व्यक्ति भी पाँच मिनट पहले ही प्रवचन मंडप में उपस्थित हो जाते।

प्रवचन प्रारम्भ करते हुए धर्मेश ने कहा – "भाई ! धरमध्यान का विवेचन करें, उससे पहले हम यह बता देना चाहते हैं कि 'ध्यान' ज्ञान विना नहीं होता। जिसका ज्ञान ही नहीं, उसका ध्यान कैसे संभव है ? हम आप से कहें कि आप अपने उन स्वर्गीय दादाजी का ध्यान करो जो आपके जन्म से पहले ही स्वर्गवासी हो गये थे। वे कैसे थे ? गोरे या काले ? लम्बे थे या ठिगने ? दुबले थे या मोटे ? टोपी लगाते थे या पगड़ी बाँधते थे ? मूँछ रखते थे या नहीं ? वे हँसमुख थे या गंभीर ?

निश्चित ही आपका यही उत्तर होगा – जब हमने उन्हें देखा ही नहीं तो स्मरण किसका करें ? वे हमारे ज्ञान में कभी आये ही नहीं तो ध्यान में कैसे आ सकते हैं ?

अरे भाई ! जिसतरह दर्शन विना स्मरण नहीं होता; ठीक इसी तरह आत्मा के ज्ञान विना आत्मा का ध्यान भी नहीं हो सकता। अत: आत्मा का ध्यान करने के पहले आत्मा का ज्ञान आवश्यक है। आत्मा हमारे ध्यान में आये, इसके लिए उसे पहले अपने ज्ञान में आना ही होगा, उसे जानना-पहचानना ही होगा।

जिसप्रकार यह कहा जाता है कि **आत्मज्ञान ही ज्ञान है, शेष सभी अज्ञान;** उसीप्रकार **मात्र आत्मा का ध्यान ही निश्चय से धर्मध्यान है, शेष सभी अपध्यान।** अपध्यानों को धर्मध्यान कहना ध्यान का अवमूल्यन करना है। इसीलिए तो आगम में कदम-कदम पर यह कहा है कि – **सम्यग्दृष्टियों को ही धर्मध्यान होता है। चतुर्थ गुणस्थान के पहले धर्मध्यान होता ही नहीं है।**

जो लोग सुबह-शाम सामायिक के काल में ध्यान के नाम पर मंत्रों का जाप और स्तोत्रों का पाठ किया करते हैं, उन्हें समझना चाहिए कि वस्तुत: वह धर्मध्यान नहीं है, सचमुच तो वह सामायिक भी नहीं है; क्योंकि सामायिक में भी आत्मध्यान की ही मुख्यता होती है। अथवा छह द्रव्यों के स्वरूप का चिन्तन-मनन होता है; क्योंकि 'समय' शब्द के दो ही अर्थ हैं – एक शुद्धात्मा और दूसरे छह द्रव्य। जब छह द्रव्यों के स्वरूप का विचार चलेगा तो वस्तु-स्वातंत्र्य का सिद्धान्त स्वत: ही फलित होगा और वह समता भाव होने में कारण बनेगा; जो कि सामायिक का सही फल है।

सचमुच धर्मध्यान के सम्बन्ध में बहुत गड़बड़ी है; अतः सर्वप्रथम आगम के परिप्रेक्ष्य में इस पर गंभीरता से विचार होना चाहिए।

देखो, ध्यान के चार भेदों में अबतक जो आर्त-रौद्रध्यान की चर्चा हुई, धर्मध्यान उससे भिन्न ही होना चाहिए। इससे स्पष्ट है कि जिसमें इष्ट-अनिष्ट कल्पना हो, वह धर्मध्यान नहीं हो सकता। जिसके चिन्तन से रोना आये, मानसिक पीड़ा हो, दुःख हो, जिसमें आँसू आयें, वह भी धर्मध्यान नहीं हो सकता; क्योंकि ऐसा चिन्तन या विचार आर्तध्यान की कोटि में ही आता है। ध्यान रहे, आर्तध्यान प्रशस्त भी होता है; पर होता दुःखरूप ही है। इसका स्पष्टीकरण आर्तध्यान के प्रवचन में आ ही चुका है।

रौंद्रध्यान और धर्मध्यान - दोनों आनंद रूप हैं; पर दोनों में मौलिक अन्तर यह है कि रौंद्रध्यानी पाँचों इन्द्रियों के विषयों में आनन्दित होता है। उसे पाँचों पापों की प्रवृत्ति में आनन्द आता है। वह विकथा में रमता है और धर्मध्यानी को मात्र आत्मा के अतीन्द्रिय आनन्द में सुखानुभूति होती है। उसे धर्मकथा, वीतरागी वार्ता ही सुखद लगती है। यद्यपि दोनों आनन्द रूप हैं, पर दोनों के आनन्द में जमीन-आसमान का अन्तर है। एक कोरा सुखाभास है और दूसरा सचमुच सुखस्वरूप है।

धर्मध्यान की व्याख्या करते हुए आचार्यों ने जो भी कहा है, उस सबका संक्षिप्त सार यह है कि **धर्म से युक्त ध्यान ही धर्मध्यान है।**

यहाँ प्रश्न हो सकता है कि धर्म का पेटा तो बहुत बड़ा है, आप किस धर्म से युक्त ध्यान को धर्मध्यान बताना चाहते हैं ?

यह प्रश्न बहुत महत्त्वपूर्ण है, सचमुच धर्म का पेटा बहुत बड़ा है; पर भाई ! यहाँ तो 'वत्थु सहावोधम्मो' एवं 'चारित्रं खलु धम्मो' वाली धर्म की व्याख्या ही प्रासंगिक है। **वस्तु का स्वभाव अर्थात् छह द्रव्यों के स्वभाव को जानकर-पहचानकर तथा इनमें स्व-पर भेदविज्ञान करके अपने आत्मा के स्वरूप में एकाग्रता करना निश्चय धर्मध्यान है और जिनोपदिष्ट वस्तुस्वातंत्र्य जैसे सिद्धान्तों का अभ्यास करना, उनके आश्रय से आत्मा**

में एकाग्र होने का अभ्यास करना तथा इन सिद्धान्तों के साधक, आराधक प्रतिपादक एवं पंचपरमेष्ठी (देव-शास्त्र-गुरु) की भक्ति द्वारा अपने चित्त को स्वरूप में एकाग्र करने का प्रयत्न करना व्यवहार धर्मध्यान है।

जिस ज्ञान से आत्मा के धर्म का, आत्मा के स्वभाव का परिज्ञान होता है; आत्मा में उसी ज्ञान की एकाग्रता, स्थिरता का अभ्यास धर्मध्यान का लक्षण है।

वीतरागभाव से, साम्यभाव से रहने का अभ्यास करने के लिए साधक जो चारों अनुयोगों का अभ्यास करता है, वह भी व्यवहार से धर्मध्यान ही है।

इष्टानिष्ट बुद्धि का मूलभूत कारण मोह ही है; मोह-राग-द्वेष के कारण ही चित्तवृत्ति चंचल रहती है। उसके छेद हो जाने पर चित्त में स्थिरता होना स्वाभाविक ही है, बस वह चित्त की स्थिरता ही धर्मध्यान है।

आचार्य कहते हैं कि - निर्विकल्प ध्यान की सिद्धि के लिए चित्त को स्थिर करना चाहते हो तो मोह-राग-द्वेष मत करो।

सम्यग्दृष्टि जीवों का शास्त्र स्वाध्याय, तत्त्व चिन्तन एवं संयमादि में चित्त का लगाना भी धर्मध्यान की श्रेणी में ही आता है और तत्त्वज्ञान शून्य अज्ञानी का आँखें बन्द करके घंटों बैठे रहना तथा स्तोत्र पढ़ना एवं मंत्रादि का जपना भी धर्मध्यान की कोटि में नहीं आता; क्योंकि सर्वज्ञ देव ने कहा है कि - बिना तत्त्वज्ञान के धर्मध्यान होता ही नहीं है। अतः धर्मध्यान के प्रेमियों को पहले तत्त्वज्ञान अनिवार्य है, भेदविज्ञान अत्यावश्यक है।''

यह सुनकर अनुराग चौंका। उसे ऐसा लगा - अरे ! यह तो मेरा ही कच्चा चिट्ठा खुल रहा है। मैं तो अपने ध्यान का पूरा समय इसी तरह बिताता हूँ। अरे ! ऐसा करके मैं कहीं खुद को ही तो नहीं ठग रहा हूँ। उन पण्डितजी ने तो यह कुछ बताया ही नहीं। तत्त्व की बातों की तो उन्होंने चर्चा ही नहीं की।

धर्मेश का प्रवचन चालू था। उन्होंने आगे कहा - ''यद्यपि आचार्यों ने हमें धर्मध्यान करने की कदम-कदम पर प्रेरणा दी है; पर यहाँ विचारणीय यह है

कि क्या सम्यग्दर्शन के बिना धर्मध्यान संभव है ? नहीं, कदापि नहीं, तो फिर धर्मध्यान की प्रेरणा देने का अर्थ तो यह हुआ कि - जिस विधि से धर्मध्यान संभव हो, वह सब करो। यदि भेदविज्ञान पूर्वक होता है तो पहले भेदविज्ञान करो।

मान लो, हिन्दू पुराण में लिखा है कि 'अपुत्रस्य गतिर्नास्ति' पुत्र के बिना मानव का उद्धार नहीं होता। अतः कम से कम एक पुत्र तो प्रत्येक के होना ही चाहिए। अब आप सोचिए कि कुँवारा व्यक्ति पुत्र प्राप्ति के लिए सबसे पहले क्या करे ? पहले शादी ही करेगा न ? पुत्र वृक्षों में तो फलेंगे नहीं।

इसी तरह धर्मध्यान रूप पुत्र प्राप्त करना हो तो सबसे पहले सम्यग्दर्शन करना होगा, आत्मज्ञान करना होगा; क्योंकि जिस तरह शादी बिना पुत्र संभव नहीं, उसी तरह सम्यग्दर्शन या आत्मज्ञान श्रद्धान बिना धर्मध्यान संभव नहीं।"

एक श्रोता ने पूछ ही लिया - "गुरुजी ! इस युग में सम्यग्दर्शन तो विरलों को ही होता है, फिर धर्मध्यान के लिए ऐसा प्रतिबन्ध क्यों लगाया कि **धर्मध्यान सम्यग्दृष्टियों को ही होता है ?**"

धर्मेश ने मुस्कुराते हुए कहा - "भाई ! यह प्रश्न ही हास्यास्पद है। ऐसा प्रश्न करने वालों को मूलतः धर्मध्यान के स्वरूप की ही खबर नहीं है।

अरे भाई ! जिस आत्मतत्त्व को जानने और प्रतीति में आने का नाम सम्यग्दर्शन है, उसी में जमने-रमने व उसी रूप परिणमन करने का नाम धर्मध्यान है। जिसे सम्यग्दर्शन कठिन लगता है, उसे ध्यान सरलता से कैसे हो जायेगा ?

धर्मध्यान तो सम्यग्दर्शन एवं भेदज्ञान रूपी बीज का फल है। जब बीज ही नहीं होगा तो धर्म का वृक्ष कहाँ से उगेगा ? और वृक्ष के बिना धर्मध्यान के फल कहाँ फलेंगे?

जिसे आत्मा की पहचान हो जाती है, आत्मानुभूति हो जाती है, जिसने एक बार अतीन्द्रिय आनन्द का रस चख लिया हो; उसे बारम्बार उसका स्वाद लिए बिना चैन ही नहीं पड़ती। कहा भी है -

जब आतम अनुभव आवे, तब और कछु न सुहावें।
गोष्ठी कथा कौतूहल विघटें, पुद्गलप्रीति नसावें॥

जिसकी जिससे लगन लग जाती है, प्रीति हो जाती है; उसे उसका ध्यान हुए बिना नहीं रह सकता। लड़की के प्रेम में समर्पित सेठ के लड़के के अनुभूत उदाहरण से यह बात सुगमता से समझी जा सकती है।''

धर्मेश ने वह उदाहरण देते हुये कहा -

''एक सेठ के लड़के का पड़ौस की लड़की से प्यार हो गया। लड़की अच्छी थी, संस्कारसम्पन्न थी; इस कारण पसन्द तो सेठ को भी थी; पर उसकी चिन्ता का विषय यह था कि एक तो बेटा पढ़ने में वैसे ही लापरवाह है, ऊपर से यह प्यार का चक्कर ! आखिर किया क्या जाये ?

सोचते-सोचते सेठ को एक उपाय सूझा, उसने बेटे को बुलाया। और त्यौरियाँ बदलते हुए कहा - ''बहुत हो गया, अब ये सब नहीं चलेगा, अपना यह प्रेम का नाटक बन्द करो।''

बेटा घबराया, नीची आँखें हो गईं, पैर के अँगूठे से जमीन खोदता खड़ा रहा।

पिता ने गंभीर होकर प्यार से कहा - ''बेटा घबराओ नहीं, लड़की तो हमें भी पसन्द है; पर ... ''

''पर क्या ?'' पुत्र ने सशंक होकर पूछा।

सहज भाव से पिता ने उत्तर दिया - ''बात तो कोई खास नहीं, पर एक छोटी-सी शर्त है।''

''शर्त ! कैसी शर्त ? काहे की शर्त ?'' पुत्र पुनः शंकित हो उठा।

''बेटा ! घबराओ नहीं, ऐसी कोई बात नहीं है, जिसे मानने में तुम्हें कोई परेशानी हो।'' - यह कहकर पिता ने आश्वस्त किया।

आशा-निराशा के झूले में झूलता बेटा बोला - ''पापा ! आप कैसी बातें करते हैं। क्या आज तक मैंने आपकी कोई बात टाली है ? बताइये कब कौनसी बात नहीं मानी ? जो आप आज ऐसी शर्त रख रहे हैं। बताइये तो सही, आखिर आप चाहते क्या हैं ? लड़की तो आपको भी पसन्द है न ?''

"हाँ, हाँ, कह दिया न! लड़की हमें भी पसंद है।"

"बस तो अब कहिये आप क्या कहना चाहते हैं ? यदि आपको लड़की पसन्द है तो फिर मुझे भी आपकी सब शर्तें मंजूर हैं।"

"तो सुन! आज से तू परीक्षा तक लड़की से मिलेगा-जुलेगा नहीं।"

"ठीक है पापा ! नहीं मिलूँगा, बिल्कुल नहीं मिलूँगा।"

"दूसरी बात यह है कि चिट्ठी-पत्री और टेलीफोन भी नहीं करेगा।'

"यह भी ठीक है, नहीं करूँगा। बस ....."

"इतना ही बस नहीं, तीसरी और अन्तिम बात यह भी कान खोलकर सुन ले जबतक शादी नहीं हो जाती तबतक तू उसके बारे में सोचेगा भी नहीं, वह तेरे ध्यान में भी नहीं आनी चाहिए, स्वप्नों में भी नहीं आनी चाहिए। समझे .... !'

बेटा गंभीर होकर बोला - "पापा! आप यह क्या कह रहे हैं ? यह कहने के पहले कुछ सोचा भी है आपने ? माफ करना पापा ! यह नहीं हो सकता, कदापि नहीं हो सकता। मन में आने से मैं उसे कैसे रोक सकता हूँ ?

पुत्र का रुख बदला देख पिता की समझ में सब कुछ आ गया कि जिससे परिचय और प्रीति हो गई हो वह ध्यान में आये बिना नहीं रह सकता। अब कुछ भी कहना व्यर्थ है, यह सोचकर पिता चुप हो गये।"

धर्मेश ने कहा - "अरे भाई ! जिसकी जिससे प्रीति हो जाती है, वह उसके ध्यान में आये बिना कैसे रह सकता है? शारीरिक सम्बन्ध पर प्रतिबन्ध लगाया जा सकता है, वाणी पर लगाम लग सकती है; पर मन में आने से, ध्यान में आने से कोई किसी को कैसे रोक सकता है ? जो ज्ञान में आ गया, घनिष्ठ परिचय में आ गया, वह ध्यान में तो आयेगा ही।

अतः ध्यान करने/कराने की चिन्ता को छोड़कर पहले आत्मा का यथार्थ ज्ञान-श्रद्धान करने का पुरुषार्थ करो। आत्मा का परिचय करो, उससे प्रीति करो; फिर आत्मा की प्राप्ति भी हुये बिना नहीं रहेगी।" •

३२

एक दिन वह था, जब अमित साधारण-सी शारीरिक पीड़ा को इतना अधिक तूल दे देता था, जिससे सारा घर परेशान हो जाता था। माथे में, पेट में, पीठ में, कहीं भी जरा-सी भी पीड़ा क्यों न हो जाये, हाथ-पैर-कमर आदि शरीर के किसी भी अंग में किसी भी प्रकार का किंचित् भी कष्ट क्यों न हो जाये। वह जमीन-आसमान एक कर देता था।

चीख-चीख कर कभी कहता - मैं सिर दर्द के कारण मरा जा रहा हूँ। कभी कहता - पेट दर्द से मेरा बुरा हाल हो रहा है। कभी कहता - सांस लेने में मेरे प्राण-से निकलते हैं, क्या करूँ ? कुछ समझ में नहीं आता; तुम्हें कैसे बताऊँ कि मुझे कितना भारी दर्द है। सारा शरीर ऐसा भनभना रहा है, मानो सौ-सौ बिच्छुओं ने एक साथ काट लिया हो।

यद्यपि आज तक उसे कभी एक भी बिच्छू ने नहीं काटा था, जिससे सौ-सौ बिच्छुओं के काटने के दर्द की तुलना करता; पर अपने दर्द को बढ़ा-चढ़ा कर बताने का उसके पास अन्य कोई उपाय भी तो नहीं था।

यद्यपि उसे कष्ट उतना भयंकर नहीं होता था, जितना वह वाणी में व्यक्त किया करता था; परंतु वह छल से भी ऐसा नहीं करता था। अपने कष्ट को जैसा वह बढ़ा-चढ़ा कर वाणी में व्यक्त करता, मानवीय मनोविज्ञान के मुताबिक उसे धीरे-धीरे मन में अनुभव भी वैसा ही होने लगता था।

वह कहता - "मुझसे दर्द सहा नहीं जा रहा है। जो भी उपाय करना हो, जल्दी करो। रामू कहाँ मर गया ? उससे कहो वैद्य को जल्दी बुलाकर लाये, डॉक्टरों को भी फटाफट फोन कर दो, मन्त्र-तन्त्र वाले पण्डित को भी खबर तो कर ही दो, झाड़ने-फूँकने वाले को भी बुला ही लो। सबको अपने-अपने तजुर्बों का प्रयोग करने दो। किसी न किसी से तो लाभ हो ही जायगा। किसी भी तरह हो, दर्द जल्दी ही दूर होना चाहिए।"

माँ आश्चर्य मुद्रा में कहती - "सबको एक साथ!"

अमित कहता - "हाँ-हाँ, सबको एक ही साथ। ... सबको एक साथ बुलाने में अपना हर्ज ही क्या है ? बेचारे मुहरें तो मांगते नहीं हैं; जिसके भाग्य में जो होगा, अपने-अपने भाग्य का ले जायेंगे। जबतक डॉक्टर लोग नहीं आ पाते, तबतक दादी अपने नुस्खे ही आजमा कर देख ले। घरेलू उपचार करने में भी अपना बिगड़ता ही क्या है?"

अमित जरा-जरा से दर्द में इतना हो-हल्ला मचा देता कि मानो उस पर मुसीबतों का पहाड़ ही टूट पड़ा हो। उसे सहानुभूति दिखाते हुये स्नेहवश पत्नी पैर दबाने लगती, माँ माथे पर हाथ फेरने लगती, घबड़ाकर दादा-दादी देवी-देवताओं से मनोतियाँ मनाने लगते, मिन्नतें करने लगते। पिताजी परमात्मा से प्रार्थना करने लगते। डॉक्टरों को फोन कर दिये जाते, वैद्य बुलाने की व्यवस्था हो जाती। सभी कुछ अमित के कहे अनुसार व्यवस्था कर दी जाती, तो भी अमित को तसल्ली नहीं होती। वह दर्द ... दर्द... दर्द... चिल्लाता ही रहता।

डॉक्टर, वैद्य, हकीम, मंत्र-तंत्र वाले - सब एक साथ आ जाते। अपने-अपने तरीकों से वे अंग-अंग में दर्द की तलाश करते; पर दर्द तो उनके आने से पहले ही नदारद हो जाता। मानो वह अमित के हो-हल्ले के डर से ही भाग गया हो। उसके दर्द में दम ही कितना होता, जो उसके हो-हल्ला और डॉक्टरों के सामने अपनी शक्ल दिखाने खड़ा रहता। डॉक्टर, वैद्य आदि अपनी-अपनी फीस और दक्षिणा लेकर अमित की असहनशीलता पर हँसते-मुस्कुराते अपने घर चले जाते।

सवेरा होते ही पड़ौसी पूछते - आये दिन अमित को क्या हो जाता है ? जिससे सारा घर आसमान सिर पर उठा लेता है। घर के लोग तो रात-रात भर सोते ही नहीं, अड़ौसी-पड़ौसी और मुहल्ले के लोग भी हो-हल्ला से जाग जाते हैं।

घरवाले तो क्या बताते, उन विचारों को तो स्वयं ही कुछ पता नहीं चल पाता। लोग अनुमान लगाया करते, परस्पर बातें करते।

कोई कहता - "बेचारे पर किसी देवी-देवता का प्रकोप हुआ-सा लगता है। किसी देवी-देवता को मानता-पूजता भी तो नहीं है। नास्तिक है न!"

कोई कहता - "उसी के द्वारा किये पापों का फल होगा। वह कम पापी थोड़े ही है। खाने-पीने का कोई विवेक तो है ही नहीं, धंधा-व्यापार भी न्याय-नीति का नहीं है।"

अमित कोरे वहाने नहीं वनाता था, उसे दर्द तो थोड़ा-वहुत होता ही था। भले कारण कुछ भी हो। उसकी मूलभूत गलती तो मात्र इतनी-सी थी कि उसमें दर्द को सहने की शक्ति नहीं थी। इसकारण वह पीड़ा से जितना पीड़ित होता था, उससे कहीं अधिक पीड़ा की सम्भावना से परेशान रहता था। इसकारण वह थोड़ीसी पीड़ा से ही बहुत वेचैन हो जाता था और जबतक वह पीड़ा मिट न जाये, तबतक हाय-तोबा किया ही करता था।

यह सच है कि जितना हो-हल्ला वह करता था, उतनी पीड़ा उसे उस समय नहीं होती थी। वह पीड़ा से आतंकित होकर कुछ अधिक ही शोर मचाया करता था। न स्वयं सोता और न घरवालों को सोने देता। इसे ही तो शास्त्रीय शब्दों में **पीड़ाचिन्तन आर्तध्यान** कहते हैं।

एक दिन बड़ी उत्सुकता से एक पड़ौसी ने चैकअप करने आये एक वड़े डॉक्टर से पूछा - "डॉक्टर साहव ! आये दिन क्या हो जाता है अमित को, जो आप लोगों को रोज-रोज टाइम-वे-टाइम कष्ट उठाना पड़ता है ?"

डॉक्टर का उत्तर था - "अरे भाई ! हुआ क्या ? कुछ भी नहीं ओवरड्रिंकिंग और ओवरडाइट के कारण थोड़ीसी गैसेस ट्रबल हो जाती है, उससे कभी सिरदर्द हो जाता है, कभी पेट में पीड़ा होने लगती है। कभी सीने में दर्द होने लगता है तो कभी कमरदर्द। कारण एक है, वीमारियाँ अनेक दीखतीं हैं। उन्हें यह सब वता दिया है, फिर भी आये दिन विना वजह अनेक डॉक्टरों की भीड़ इकट्ठी कर लेते हैं। वड़े आदमी जो ठहरे। कौन समझाये इनको ? डाक्टरों को क्या ? उनका तो धंधा है। फीस मिलती है सो दौड़े चले आते हैं।

भला आदमी ओवरड्रिंकिंग करता है, उससे नकली भूख लगती है, खाने की इच्छा होती है, सो अनाप-सनाप कुछ भी खा-पी लेता है। पेट तो आखिर

पेट ही है, कोई कोल्हू तो है नहीं, जिसमें कुछ भी पेल दिया जाये। जिसे पेट की परवाह नहीं, जिसके मुँह में लगाम नहीं, उसका तो आये दिन यही हाल होना हैं।"

डॉक्टर ने आगे कहा - "मैंने तो साफ-साफ कह दिया - इस काम के लिए भविष्य में आप मुझे कभी फोन न करें। ये क्या खिलवाड़ है? एक ओर बड़े-बड़े डॉक्टरों की लाइन अलग लग रही है, दूसरी ओर वैद्य, हकीम, जंत्र-मंत्र-तंत्र और गण्डा-ताबीज वाले, पण्डा-पुजारी सब एक साथ बिठा रखे हैं। बड़े आदमी के मायने यह तो नहीं कि चाहे जिसको लाइन में लगा दे। हर एक के अपने कुछ सिद्धान्त होते हैं, कुछ उसूल होते हैं। पैसा ही तो सब कुछ नहीं है।"

यह किस्सा कोई एक दिन का नहीं था, आये दिन ही ऐसा होता था। ऐसी स्थिति में जिन चिकित्सकों में जरा भी स्वाभिमान था, उन्होंने तो आना ही बन्द कर दिया। धीरे-धीरे मुहल्ले के लोग भी समझने लगे थे कि अमित के यहाँ भीड़-भाड़ और चहल-पहल का कारण और कुछ नहीं, उसे दो-चार छींकें आ गईं होंगी। परिवर्तन के पहले यह इमेज थी अमित की।

वही अमित जब से धर्मेश के अन्तर-बाह्य व्यक्तित्व से प्रभावित हुआ, उसके निकट सम्पर्क में आया, उसके सान्निध्य में रहकर तत्त्व का अभ्यास करने लगा, उसका नियमित श्रोता बन गया और उसे अपना ज्ञानगुरु मानने लगा; तब से उसका जीवन ही बदल गया।

अब सचमुच मरणतुल्य पीड़ा में भी, सौ-सौ बिच्छु काटे जैसी वेदना होने पर भी वह मुँह से उफ तक नहीं निकालता। बगल के पलंग पर सो रही अपनी पत्नी सुनन्दा को भी नहीं जगाता। जगाना तो बहुत दूर, उसे अपनी असह्य पीड़ा का पता तक नहीं चलने देता। अब उसकी बेचैनी को या तो वह जानता था या सर्वज्ञ देव। अन्य कोई नहीं जान पाता।

अब अमित दम फूलने के कारण शीतकाल की बड़ी-बड़ी रातें बैठे-बैठे बिता देता है, पर मजाल कि किसी की नींद खराब करे। सिर दर्द के मारे माथा

पकड़े चुपचाप बैठा रहता है; पर किसी से कुछ कहता नहीं। अपने कष्ट में किसी को सहभागी नहीं बनाता।

कहाँ से आ गई अनायास यह सहनशक्ति उसमें? कैसे हुआ इतना भारी परिवर्तन ?

जब सारा शहर गहरी नींद में सो रहा होता, सड़कें सुनसान हो जातीं, सिपाहियों की सीटियों के सिवाय कहीं कोई आवाज सुनाई नहीं देती, तब बीमार व्यक्तियों की दुख-दर्द भरी कराहने की आवाजें स्पष्ट सुनाई देने लगतीं हैं, जो आस-पास के लोगों की नींद भंग तो करती हैं। सम्पूर्ण वातावरण को भी करुण रस से भर देतीं हैं। अस्थमा से पीड़ित अमित की गिनती भी अब ऐसे ही बीमारों में हो गई थी। अब उसे सचमुच भारी कष्ट हो गया था। वह रात-रात भर सो नहीं पाता था। सुनन्दा भी देर रात तक जाग-जाग कर पति के दु:ख में सहभागिनी बनने का पूरा-पूरा प्रयत्न करती, पर शरीर तो आखिर शरीर ही है, जब वह थककर चूर-चूर हो जाती तो न चाहते हुए भी नींद आ ही जाती।

अमित अब सुनन्दा को थोड़ा भी कष्ट नहीं देना चाहता था। अत: वह सुनन्दा के सो जाने पर उसे जगाता तो नहीं था; पर उसकी पीड़ा की कराहें कच्ची नींद में सोई सुनन्दा के कानों में टकराने से, उसकी दु:खभरी आहों और कराहों से वह स्वयं ही चौंक-चौंक पड़ती थी। वह जब भी आँख खोलकर देखती तो वह अमित को तड़फता ही पाती।

कुछ गिरने के धमाके से जब सुनन्दा की नींद खुली और उसने उठकर देखा तो पानी का लोटा नीचे पड़ा था, पानी पलंग पर फैल गया था और अमित पलंग पर औंधे मुँह पड़ा प्यास से तड़फ रहा था। वह सांस लेने में भी भारी कठिनाई महसूस कर रहा था। घड़ी की ओर देखा तो उस समय तीन बज रहे थे।

सुनन्दा ने अमित की पीठ सहलाते हुए पूछा - "तबियत कैसी है, क्या अभी तक नींद बिल्कुल भी नहीं आई ? जब नींद नहीं आ रही थी, बेचैनी बढ़ रही थी तो ऐसी स्थिति में उठे ही क्यों? तुमने मुझे जगा क्यों नहीं लिया ?

अमित बोला - "मैंने सोचा कि तुम्हें जगाने से मेरी पीड़ा तो कम होगी नहीं। वह तो मुझे ही सहनी पड़ेगी। फिर तुम्हें व्यर्थ परेशान क्यों करूँ ? कोई एक-दो दिन की बात तो है नहीं, तुम रात-रात भर जागकर कबतक कितना साथ दे सकोगी ? फिर तुम्हें दिन भर घर-बाहर का सब काम-काज भी तो करना पड़ता है। तुम्हारा शरीर कोई फौलाद का बना तो है नहीं। सुनन्दा ! मैंने तुम्हें जीवन में दुःख के सिवाय और दिया ही क्या है ?"

कहते-कहते अमित की आँखों में आँसू छलक आये।

"नाथ ! आप पुरानी बातों को याद कर-करके ये कैसी बातें करते हो ? याद है उस दिन धर्मेशजी ने क्या कहा था ? उन्होंने कहा था कि - जिसका करना चाहिए हमें स्मरण, हम उसका करते हैं विस्मरण; और जिसका करना चाहिए हमें विस्मरण, हम उसका करते हैं स्मरण; इसी कारण होता है भव में भ्रमण।

सचमुच भूतकाल तो भूलने जैसा ही है; उसे याद करने से पश्चाताप और दुःख के सिवाय और मिलता ही क्या है ? भूतकाल तो तीर्थंकर भगवन्तों का भी भूलों से ही भरा था। हम तुम तो बिसात ही क्या है ? भूतकाल में हुई भूलों के लिए रोना-धोना व्यर्थ ही है।

धर्मेश के प्रवचन में दूसरी महत्वपूर्ण बात यह भी आई थी - **सुख-दुःख दाता कोई न आन, मोह-राग-रूष दुःख की खान।** कोई अन्य व्यक्ति किसी को सुख-दुःख का दाता है ही नहीं, अपना अज्ञान व रागद्वेष ही अपने-अपने दुःख के विधाता हैं। अतः किसी अन्य को दोष देना व्यर्थ है।"

सुनन्दा की अमृत तुल्य तत्त्वज्ञान की बातें सुनकर अमित को ऐसा लगा मानो उसके हरे-भरे घावों पर किसी ने मरहम ही लगा दी हो। उसे थोड़ी देर के लिये अतीन्द्रिय आनंद की-सी अनुभूति हुई। फिर उसे विकल्प आया - अभी रात के तीन बजे हैं, सुनन्दा को सो जाना चाहिए।

अमित ने स्नेह भरे स्वर में कहा - "सुनन्दा ! तुम सो जाओ। मुझे मेरे हालातों पर छोड़ दो। मेरे पीछे तुम अपना स्वास्थ्य मत बिगाड़ो। अब तुम मेरे बजाय मेरे बेटे की देखभाल पर ध्यान दो। तुम्हारे सिवाय अब उसका है ही कौन ? मेरे जीवन का तो कोई भरोसा है नहीं, सुना है दमा की बीमारी दम लेकर ही जाती है और फिर एक ही बीमारी थोड़े ही है। यह शरीर तो बिमारियों का ही अड्डा बन गया है। तुम्हें क्या बताऊँ सौ बिच्छू की वेदना चौबीसों घंटों बनी रहती है। सचमुच यदि धर्मेशजी का सान्निध्य नहीं मिला होता और तत्त्वज्ञान का बल नहीं होता तो संभवत: मैं इस मरणासन्न पीड़ा से बचने के लिए जहर खाकर कभी का सदा के लिये सो गया होता।"

अमित की बातें सुनकर सुनन्दा की आँखों में आँसू आ गये। आँसू पोंछती हुई बोली - "स्वामी ! आप अपने मुँह पर मौत की बात लाते ही क्यों हो ?



ऐसा अशुभ सोचते ही क्यों हो ? अभी आपकी उम्र ही क्या है ? यह पाप का उदय भी चला जायेगा। मुझे विश्वास है आप शीघ्र पूर्ण स्वस्थ हो जायेंगे।"

अमित ने कहा - "यह तुम नहीं, तुम्हारा राग बोल रहा है। ठीक है, तुम्हारी भावना सफल हो। यदि मुझे जीने की तमन्ना नहीं है तो मरने की जल्दी भी नहीं है। जबतक यह जिनवाणी सुनने-समझने व तत्त्वचिन्तन-मंथन करने का मौका मिल रहा है, अच्छा ही है; पर हमारे-तुम्हारे सोच के अनुसार कुछ नहीं होता। जो होना है, वह निश्चित है - मुझे इस पर पूर्ण आस्था है। पर इतना मैंने पक्का निश्चय कर लिया है कि अब मैं अपना शेष जीवन धर्मेश के सान्निध्य में ही बिताऊँगा। आज से वह मेरा मित्र ही नहीं, गुरु भी है। किसी को गुरु बनाने के लिये उसकी उम्र नहीं देखी जाती, गुण देखे जाते हैं। अतः अब मैं उसे 'गुरुजी' कहने में किंचित् भी संकोच नहीं करूँगा।"

बात करते-करते अमित को फिर दमा का दौरा पड़ गया और वह छाती दबा कर वहीं बैठ गया। बैठे-बैठे सोचने लगा - करनी का फल तो भोगना ही पड़ेगा, पलायन करने से काम नहीं चलेगा। जब कुत्ते के कान में कीड़े पड़ जाते हैं और वे काटते हैं तो वह कान फड़फड़ाता हुआ इधर से उधर, उधर से इधर भागता फिरता है, अंधेरे में जाकर बैठता है। वह सोचता है कि अंधेरे में कीड़ों के काटने से बच जाऊँगा। उस बेचारे को यह पता नहीं कि दुःख का कारण बाहर नहीं, मेरे कान के अन्दर ही विद्यमान है। यही स्थिति हमारी है। कर्म के कीड़े तो हमारे ही अन्दर हैं न ? इधर-उधर भागने से अथवा बेमौत मरने से क्या होगा ? कर्म तो पीछा छोड़ेंगे नहीं ? अज्ञान दशा में जो भी उपाय हम करते रहे हैं, वे सब झूठे हैं।

बात तो यही सच्ची है कि - **अनादिनिधन वस्तुयें भिन्न-भिन्न अपनी मर्यादा सहित परिणमित होती हैं। कोई किसी के आधीन नहीं है, कोई किसी के परिणमित कराने से परिणमित नहीं होती। इसप्रकार परमाणु-परमाणु का परिणमन स्वतंत्र है। एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कर्त्ता-धर्ता-हर्ता नहीं है।**

धर्मेश के सम्पर्क में आने के पहले जब सुनन्दा को तत्त्वज्ञान नहीं था; तब वह भी निरन्तर यह सोच-सोचकर दुःखी रहती थी कि -

माँ की, मेरी, सुनयना की और जीवन्धर की जो दुर्दशा हुई, इसका एक मात्र कारण मेरे पिता हैं। इनके दुर्व्यसनों के कारण हम कहीं के नहीं रहे। क्या यही कर्तव्य होता है एक पिता का ? इनके कारण बचपन तो असीमित दुःखों में गुजरा ही, शादी भी की तो ऐसे व्यक्ति से कर दी जो एक नम्बर का पियक्कड़ है। इस शादी से तो अच्छा यह होता कि वे हमारे हाथ-पैर बाँधकर हमें किसी गहरे कुए में ही पटक देते। पतिदेव के गुण भी कहाँ तक गायें। वे पिताजी से भी दो कदम आगे हैं। किस-किस को रोयें ? और तो और अपना यह शरीर भी तो साथ नहीं देता। आये दिन कोई न कोई बीमारी, कोई न कोई पीड़ा। घर से बाहर निकलो तो जिससे कोई आशा - अपेक्षा करो, वह या तो पीठ फेर लेता है या फिर इज्जत लूटने को फिरता है। कितनी नालायक है यह दुनिया ? न खाने को दाना, न तन ढकने को वस्त्र। सब बर्बाद कर दिया। कहीं का नहीं छोड़ा। अब तू न जी सकती है और न मर सकती है। क्या नहीं था पिता और पतिदेव के कुलों में ? रईसों जैसे ठाठ-बाट थे दोनों के, पर कर दिया सबका सत्यानाश।

एक पहलू तो यह था सुनन्दा के सोचने का और अब दूसरे पहलू को देखिए। जब से सुनन्दा धर्मपुरुष धर्मेश के सम्पर्क में आई, धर्मेश से तत्त्वोपदेश सुना-समझा और जैनधर्म के मूलभूत सिद्धान्तों की श्रद्धावान बनी, तब से यदि कोई उसे बचपन की याद दिलाता है तो वह सोचती है -

जगत में जितने जीव हैं, वे सब अपने किये पुण्य-पाप का ही फल भोगते हैं, दुःखी-सुखी करने वाला यदि अन्य कोई हो तो हमारे द्वारा किये गये पाप-पुण्य का क्या होगा? क्या वे निष्फल नहीं ठहरेंगे ?

अतः किसी अन्य को अपने दुःखों का कारण मानना, दूसरों के दोष देखना मूर्खता है। कोई भी पर पदार्थ भला-बुरा नहीं है, इष्ट-अनिष्ट नहीं है। अपने राग-द्वेष व अज्ञान से ही वे भले-बुरे प्रतीत होते हैं।

सुनन्दा को जब भी पूर्व दुःखद स्मृतियाँ सताती तो वह तुरन्त ही पुराण पुरुष राम, हनुमान, सीता, द्रोपदी, अंजना आदि के आदर्शों को याद करके मन ही मन समाधान पा लेती।

इस तरह अब उसके सहज ही चलते-फिरते, उठते-बैठते, खाते-पीते, सोते-जागते आज्ञाविचय, अपायविचय व विपाकविचय धर्मध्यान होने लगा।

फिर भी वह दोनों सांध्यकालों में दो-दो घड़ी शान्ति से बैठकर एकान्त में मन, वचन, काय की शुद्धिपूर्वक पंचपरमेष्ठी वाचक मंत्रों का एवं पंचपरमेष्ठी के स्वरूप का स्मरण करके चित्त को एकाग्र करने का पुरुषार्थ भी करती, ताकि उपयोग में आत्मस्थ होने की पात्रता प्रगट हो सके।

सुनन्दा ने अमित को संबोधित करते हुये कहा - "जिसतरह हमें अज्ञान अवस्था में अपने आर्त-रौद्र ध्यानों की पहचान नहीं थी; इसीतरह बहुत से लोगों को अपने विशुद्ध भावों का पता नहीं होता। इस कारण वे घबराते हैं, सोचते है कि - हाय ! हम क्या करें ? धर्मध्यान तो हमसे होता ही नहीं है, हम तो कभी धर्मध्यान करते ही नहीं हैं। वैसे भी हम कभी दस मिनट बैठकर मन को एकाग्र कर नहीं पाते। अतः हमें धर्मध्यान की प्राप्ति कैसे होगी ?

पर उन्हें चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं है, चिन्ता करने से कुछ होता भी नहीं है। तत्त्वज्ञान होने पर, वस्तु की स्वतंत्रता का भान होने पर, कर्म सिद्धान्त का परिचय होने पर धर्मध्यान स्वयमेव होने लगता है। **सिद्धान्तों के सहारे अपने में समता भाव जगाना ही तो धर्मध्यान है; वह एकांत में बैठकर भी हो सकता है और चलते-फिरते भी होता ही रहता** है। अतः निश्चिंत होकर भेदज्ञान का अभ्यास करना चाहिए। वस्तुस्वरूप समझने का प्रयास एवं शास्त्राभ्यास से पर में एकत्व-ममत्व एवं कर्तृत्व-भोक्तृत्व की धारणा को निर्मूल करना चाहिए। धर्मध्यान करने का यही एकमात्र उपाय है।

इसके बिना कोई भी क्रियाकाण्ड, आसन और प्राणायाम आदि क्रियायें हमें धर्मध्यान की मंजिल पर नहीं पहुँचा पावेंगी।"

इसप्रकार सातिशय पुण्य के उदय से अमित और सुनन्दा दोनों के जीवन में जो क्रान्तिकारी परिवर्तन हुआ, वह सचमुच स्तुत्य है, अनुकरणीय है।•

३३

दुर्व्यसनों से हुए एक साथ अनेक रोगों के कारण अमित की देह तो दुर्बल हो ही गई थी, खाँसी और दमा के विशेष प्रकोप से कभी-कभी वह बहुत अधिक परेशान हो जाता था। ये दो ऐसे प्राण-लेवा मर्ज हैं, जो मरीज को कहीं का नहीं छोड़ते। इनसे मरीज की वेदना तो मरण-तुल्य होती है पर वह मरता नहीं। खाँसते-खाँसते हाल बेहाल हो जाता है। ऐसी दयनीय दुर्दशा हो जाती है कि देखने वालों को भी रोना आ जाये।

अमित को दमा के ऐसे दौरे दिन में एक-दो बार नहीं, अनेक बार आने लगे थे। दमे के दौरों से दम घुटने लगता, दम घुटने से वह पसीना-पसीना हो जाता। आँखों में आँसू आ जाते, मुँह से फेन गिरने लगता। बेचैनी बढ़ने से वह अधीर हो उठता, उसे ऐसा लगता कि मानो तत्त्वज्ञान उसके धैर्य की परीक्षा ले रहा हो।

अमित ज्यों-ज्यों धैर्य धारण करके तत्त्वज्ञान की परीक्षा में पास होने की कोशिश करता, तत्त्व का आलम्बन लेकर दुःख को समताभाव से सहने का प्रयत्न करता, त्यों-त्यों दमा का प्रकोप और अधिक बढ़ता हुआ दृष्टिगोचर होता था।

यद्यपि सुनन्दा को मानवीय कमजोरी के कारण कभी-कभी अपने दुर्भाग्य पर और पति के दुर्व्यसनों पर भारी झुंझलाहट होती तथा खीज भी खूब आती, इस कारण क्रोधावेश में वह कभी-कभी उन्हें बुरा-भला भी कह देती; पर उस के हृदय में अमित के प्रति आदरभाव था, प्रेम था, सहानुभूति थी, समर्पण भी था। अमित को सन्मार्ग पर लाने का श्रेय धर्मेश के सिवाय यदि किसी को जाता है तो वह एक मात्र सुनन्दा ही थी। सुनन्दा का मानना था कि 'पाप से

घृणा करो पापियों से नहीं।' पापी तो एक दिन पाप का त्यागकर परमात्मा तक बन जाते हैं। इस कारण उसने अपने पति अमित के प्रति बीमारी के समय सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार ही रखा और उसकी भरपूर सेवा की तथा सब तरह से पूरा-पूरा सहयोग दिया।

अमित की पीड़ा में सुनन्दा रात-रात भर जागकर पूरा-पूरा साथ देने का प्रयास करती थी। जब भी अमित को दमा का दौरा पड़ता तो तत्काल सुनन्दा उसकी पीठ पर हाथ फेरती, उसके आँसू पोंछती। दौड़-दौड़ कर दवायें लाती और खिलाती-पिलाती थी। अपनी गोद में उसका सिर रखकर सिर को सहलाती। जरूरत पड़ने पर हाथ-पैर दबाती, नहलाती-धुलाती भी।

सेवा-परिचर्या के साथ-साथ पीड़ा को भुलाये रखने के लिए, पीड़ा पर से उपयोग को हटाने के लिए, वहाँ से चित्त विभक्त करने के लिए तत्त्वज्ञानपरक और वैराग्यवर्द्धक वैराग्यभावना, बारह भावना के पाठ सुना-सुना कर वस्तु स्वरूप और संसार के स्वरूप का ज्ञान भी कराती। कभी कर्मों की विचित्रता की कथा-कहानियाँ सुनाकर समता भाव जागृत करने का प्रयास करती। कभी आध्यात्मिक भजन सुनाकर उसके मन को रमाती। सुनते-सुनते बहुत कुछ पद्य अमित को याद भी हो गये थे, जिन्हें वह स्वयं इस तरह गुनगुनाया करता था -

जग है अनित्य[१], तामैं सरन न वस्तु कोय;[२]
तातैं दु:खरासि भववास कौं निहारिए।[३]
एक चित् चिन्ह[४] सदा भिन्न परद्रव्यनि तै;[५]
अशुचि शरीर में न आपाबुद्धि धारिए॥[६]
रागादिक भाव[७] करै कर्म को बढ़ावै तातैं;
संवरस्वरूप होय[८] कर्मबंध डारिए।[९]
तीनलोक[१०] माहि जिनधर्म[११] एक दुर्लभ है;[१२]
तातैं जिनधर्म को न छिनहू बिसारिए॥

१. अनित्य, २. अशरण, ३. संसार, ४. एकत्व, ५. अन्यत्व, ६. अशुचि ७. आस्रव, ८. संवर, ९. निर्जरा, १०. लोक, ११. धर्म, १२. बोधि दुर्लभ

पण्डित कविवर भागचंद के इस एक ही पद्य में अत्यन्त संक्षेप में बारह भावनाओं का स्वरूप आ गया है। जो अमित के ध्यान में बराबर आने लगा था।

एक बार सुनन्दा ने अमित से पूछा - "अच्छा बताओ ! बारह भावनाओं का संक्षिप्त सार क्या है ?"

अमित ने बारह भावनाओं का सार बताते हुए कहा -

"अनित्यभावना में कहा है कि - जिन संयोगों में तू सदा रहना चाहता है, वे क्षणभंगुर हैं, अनित्य हैं। पुत्र परिवार कंचन कामिनी तेरे साथ सदा रहने वाले नहीं हैं या तो ये तेरा साथ छोड़ देंगे अथवा तू स्वयं इनसे चिर विदाई ले लेगा। तब ये सब सहज ही छूट जायेंगे।

अशरण भावना में यह कहा है कि - वियोग होना संयोगों का सहज स्वभाव है, कोई ऐसी औषधि या मणि मंत्र-तंत्र नहीं है जो संयोगों का वियोग होने से बचा सके। जगत अशरण है, इसमें शरण खोजना ही पागलपन है। निज आत्मा और पंच परमेष्ठी के सिवाय सब अशरण हैं।

संसार भावना में कहा है - संसार के संयोगों में जब सुख है ही नहीं, तो इन संयोगों की शरण में जाना ही निरर्थक है।

एकत्व भावना में यह कहा गया है कि दुःखों को मिल-जुलकर नहीं भोगा जा सकता। अकेले ही भोगने होंगे।

अन्यत्व भावना में एकत्व के भाव को ही नास्ति से दृढ़ किया जाता है और यह भावना आ ही जाती है कि कोई किसी का साथी नहीं हो सकता। जब शरीर ही साथ नहीं देता तो और तो क्या साथ देंगे।

अशुचिभावना में कहा गया है कि - जिस देह से तू राग करता है, वह देह अत्यन्त मलिन है, मलमूत्र का घर है।

इस प्रकार प्रारंभ की छह भावनायें संसार, शरीर और भोगों से वैराग्य उत्पन्न कराने में निमित्त हैं। इससे यह आत्मा आत्महितकारी तत्त्व सुनने-

समझने को तैयार हो जाता है। इन भावनाओं के आने से देहादि पर-पदार्थों से भेदभाव भी दृढ़ होता है।

शेष छह भावनायें तत्त्वज्ञानपरक हैं। जिनके द्वारा कर्मों के आस्रव, संवर, निर्जरा का ज्ञान होता है तथा लोक के स्वरूप की विस्तृत जानकारी प्राप्त होती है। धर्म भावना में धर्म के स्वरूप का विशेष चिन्तन करने का अवसर प्राप्त होता है। और बोधि दुर्लभ भावना से यह बोध प्राप्त होता है कि - रत्नत्रय की प्राप्ति दुर्लभ है, अतः समय रहते उसे प्राप्त करने में सतत प्रयत्नशील रहना चाहिए।

इन बारह भावनाओं का बारम्बार चिन्तन-मनन करना भी व्यवहार धर्म ध्यान है, क्योंकि इनसे ज्ञान, वैराग्य की ही वृद्धि होती है।''

जब अमित की तबियत अधिक खराब हो जाती थी तो धर्मेश स्वयं अमित को संबोधनार्थ उसके पास आ जाता और उसे समझाता। तत्त्वचर्चा भी करता और पीड़ा चिन्तन आर्तध्यान के खतरे बताकर उससे बचे रहने की प्रेरणा देता तथा धर्मध्यान की विषयवस्तु क्या है और व्यवहार धर्मध्यान के ध्येय क्या-क्या हैं ? इस बात की जानकारी कराया करता था।

धर्मेश ने एक बार अमित को संबोधित करते हुए कहा -

''जो जो देखी वीतराग ने, सो-सो होसी वीरा रे।
अनहोनी होसी नहिं क्यों ही, काहे होत अधीरा रे॥
समय एक बढ़ै नहीं घटसी जो सुख-दुःख की पीरा रे।
तू क्यों सोच करै मन मूरख होय वज्र ज्यों हीरा रे॥

जो वस्तु का स्वरूप सर्वज्ञ देव ने जैसा जाना है, देखा है, वैसा ही निरंतर परिणमता है। अतः संयोगों को इष्ट-अनिष्ट मानकर सुखी-दुःखी होना निष्फल है। ऐसे विचार से ही समता आती है।''

जितनी देर धर्मेश अमित के पास बैठा रहता और उसे तत्त्वचर्चा में रमाये रहता, तब तक तो उसे दर्द का अहसास ही नहीं होता। थोड़ा-बहुत दर्द की ओर उपयोग जाता भी तो तत्काल विषय बदल कर पुनः बातों में लगा देता।

वृन्दावन कवि को याद करते हुए धर्मेश ने उनका यह लोकप्रिय आध्यात्मिक भजन सुनाया, जिसे सुनकर सहज निर्भयता आती है।

"हमको कछू भय ना रे, जान लियो संसार ॥ टेक ॥
जो निगोद में सो ही मुझमें, सो ही मोक्ष मझार ।
निश्चयभेद कछू भी नाहीं, भेद गिने संसार ॥ १ ॥
परवश ह्वै आपा विसारिकें, राग-द्वेष को धार ।
जीवत-मरत अनादि काल तें, यों ही है उरझार ॥ २ ॥
"जाकरि जैसे जाहि समय में, जो होता जा द्वार ।
सो वनि है, टरि है कछु नाहीं, करि लीनो निरधार ॥"
हमको कछु भय ना रे, जान लियो संसार ॥...

देखो, आचार्य रविषेण ने भी इस आशय का एक श्लोक लिखा है। वे लिखते हैं - जिसे जहाँ, जिस कारण से, जिस प्रकार से, जो वस्तु प्राप्त होनी होनी है, उसे वहाँ, उसी कारण से, उसी प्रकार, वही वस्तु अवश्य प्राप्त होती है।[1]"

धर्मध्यान की व्यापकता को स्पष्ट करते हुये धर्मेश ने कहा -

"देखो अमित ! तात्त्विक विषयों की चर्चा-वार्ता करना भी धर्मध्यान ही है। ध्यान अकेले आँख बंद कर बैठने से ही नहीं, चलते-फिरते, उठते-बैठते, खाते-पीते भी होता है। अत: तुम निरंतर ऐसा ही कुछ न कुछ सोचा करो तो पीड़ा से भी बचोगे और पीड़ा चिन्तन आर्तध्यान से भी बचोगे।

इस तरह सुनन्दा, धर्मेश तथा अन्य मिलने-जुलने आने वालों में अमित का ध्यान बँटा रहने से दिन तो बहुत आराम से कट जाता; पर रात में अकेला पड़ते ही दर्द अधिक महसूस होने लगता।

अकेली सुनन्दा आखिर कबतक और कितने दिनों तक जागे। अमित को भी अपनी स्वार्थसिद्धि के लिए उसे देर रात तक जगाना पसंद नहीं था। अब

1. [illegible] यद् [illegible], येन यत्र यथा यत: ।
[illegible], [illegible] : ॥ ४० ॥

- पद्मपुराण [illegible] ११०

तो वह धर्मेश द्वारा दिये मार्गदर्शन से ही अपने समय का सदुपयोग करने लगा था। पुण्योदय से अमित धीरे-धीरे ठीक भी होने लगा था।

कुछ बीमारियाँ बदनाम हो गई हैं, जिनके बारे में कहा जाता है कि ये प्राणान्त तक पीछा नहीं छोड़तीं। जैसे - दमा तो दम लेकर ही रहता है। कैंसर का कोई इलाज ही नहीं है, टी. बी. भी इन्हीं प्राणलेवा रोगों में गिनी जाती हैं। लीवर, किडनी के नामों से भी लोग घबराते रहे हैं।

जब इनमें से एक-एक रोग से ही लोगों की रूह काँप उठती है तो जिनको ऐसे अनेक रोग एक साथ हो गये हों, उनकी घबराहट की तो बात ही क्या कहें ?

अमित उन्हीं रोगियों में एक था, जो अपनी ही भूल से एक साथ अनेक प्राणलेवा रोगों से घिर चुका था। उसके बचने की अब किसी को कोई आशा नहीं रही थी।

पर यह आवश्यक तो नहीं कि प्राणलेवा बीमारियाँ प्राण लेकर ही जायें। यदि आयुकर्म शेष हो और असाता कर्म का अन्त आ जाये तो बड़ी से बड़ी बीमारियाँ भी समाप्त होती देखीं जाती हैं।

जिन बीमारियों से पिण्ड छुड़ाना अमित को पश्चिम से सूर्य उदित होने जैसा असंभव लगने लगा था, वे बीमारियाँ भी डॉक्टरों के प्रयास और अमित व सुनंदा के भाग्योदय से धीरे-धीरे ठीक हो गईं।

अमित जब लम्बी बीमारी के बाद शारीरिक व मानसिक रूप से पूर्ण स्वस्थ होकर सुनन्दा के साथ सायंकालीन ज्ञानगोष्ठी में सम्मिलित हुआ तो सभी को प्रसन्नता हुई। धर्मेश ने भी हर्ष व्यक्त किया और मुस्कराकर उसको स्वास्थ्य लाभ के लिए बधाई दी।

अमित ने धर्मेश को अभिवादन करके बधाई के उत्तर में धन्यवाद देते हुए विनम्र भाव से निवेदन किया -

"धर्मध्यान के दस भेदों की चर्चा जो जिनागम में है, वे दस भेद कौन-कौन से हैं? और उन ध्यानों को करने की प्रक्रिया क्या है ?

धर्मेश ने कहा - "तुम्हारा प्रश्न महत्त्वपूर्ण है। प्रासंगिक भी है। इस शिविर में ध्यान का विषय ही तो चला है।"

धर्मेश ने तत्त्वचर्चा प्रारंभ करने से पहले अमित से पूछा - "कहो अमित ! अब तुम्हारी तबियत बिल्कुल ठीक है न ? चेहरे से अब तुम काफी ठीक लग रहे हो। अब तुम्हें श्वास की भी वैसी तकलीफ नहीं दीखती, जैसी पहले थी। अच्छा हुआ तुम स्वस्थ हो गये। तुम्हारी बीमारी की सभी को चिन्ता थी।"

अमित ने मुख पर थोड़ी मुस्कान लाते हुए कहा - "हाँ, आप सबकी शुभकामनाओं से और भली होनहार से बच गया हूँ। बस अब शेष जीवन आपकी शरण में ही समर्पित रहेगा। हाँ, मैंने धर्मध्यान के बारे में ।"

धर्मेश ने कहा - हाँ, मुझे ध्यान है। भाई ! धर्मध्यान के १० भेदों का कथन जिनागम में है; उनका संक्षिप्त स्वरूप इसप्रकार है -

१. आज्ञा विचय - इसमें पाँच अस्तिकाय तथा छह जीवनिकाय आदि के चिंतवन में जहाँ अपनी मति की गति न हो, उसे सर्वज्ञ की आज्ञा मानकर चिन्तन करना आज्ञा विचय धर्मध्यान है।

आचार्य अकलंक देवने राजवार्तिक ग्रन्थ में आज्ञाविचय का जो स्वरूप लिखा है, उसका सारांश यह है कि - तीव्र कर्मोदय से जिनकी मति मंद है, वे स्वयं तो अमूर्त व सूक्ष्म पदार्थों का निर्णय कर नहीं सकते और तत्त्वज्ञानी उपदेशक सर्वत्र सदाकाल सुलभ नहीं होते। अमूर्त आत्मा और धर्म, अधर्म द्रव्यों की सिद्धि के लिये ऐसे दृष्टान्त व हेतु लोक में उपलब्ध नहीं होते जो उन सूक्ष्म तत्त्वों को समझा सकें।

ऐसी स्थिति में मन्दबुद्धि मुमुक्षु जीवों को एकमात्र जिनाज्ञा को प्रमाण मानना ही शरणभूत है; क्योंकि जिनेन्द्र भगवान वीतराग व सर्वज्ञ होने से अन्यथावादी नहीं होते। कहा भी है - नान्यथा वादिनो जिनाः

अतः जिनेन्द्र कथित आगम को ही प्रमाण मानकर इसमें निरूपित वस्तुतत्त्व का चिन्तन करना आज्ञाविचय है।

तथा स्व-समय पर-समय के ज्ञाता तत्त्वज्ञानी वक्ता और लेखकों द्वारा सर्वज्ञप्रणीत अतिसूक्ष्म पंचास्तिकाय, जीवनिकाय तथा आत्मा परमात्मा के स्वरूप का आगम व युक्तियों के आलम्बन से एवं सरल-सुबोध दृष्टान्तों से जन साधारण को समझाना, तथा मिथ्यावादियों के तर्कजाल का भेदन करके उन्हें जिनमत सुनने-समझाने के प्रति सहिष्णु बनाना तथा ऐसे धर्मकथा आदि कार्य करना, जिनसे जिनश्रुत की प्रभावना हो। ये सब कार्य भी आज्ञाविचय धर्मध्यान की सीमा में ही आते हैं, क्योंकि इनमें भी सर्वज्ञ की वाणी का ही चिन्तन-मनन एवं प्रचार-प्रसार होता है।

२. अपाय विचय - शुभाशुभ भावों से मुक्त होने का चिन्तवन करना अपाय विचय है। राग-द्वेष-कषाय और आस्रव आदि क्रियाओं में निद्य इहलोक व परलोक से छूटने का उपाय सोचना अपाय विचय है।

अपाय विचय के संदर्भ में अकलंकदेव का कथन है कि - अपाय कहो या उपाय दोनों एकार्थवाचक है। उन्मार्ग में भटके जीवों को सन्मार्ग में लाने के उपायों पर विचार करना ही अपाय विचय है।

राजवार्तिक में ऐसा कहा है कि - मिथ्यादर्शन से जिनके ज्ञान नेत्र अन्धकाराछन्न हो रहे है, इस कारण जो सर्वज्ञ प्रणीत उपदेश से विमुख हो रहे हैं, सम्यक्पथ का ज्ञान न होने से जो उन्मार्ग में भटक रहे हैं, उन्हें सन्मार्ग में लाने के उपायों का चिन्तन करना, अपाय विचय है।

अथवा मिथ्यादर्शन से आकुलित चित्त वाले प्रवादियों के द्वारा प्रचारित कुमार्ग से हटकर जगत के जीव सन्मार्ग में कैसे लगें? और अनायतन सेवा से कैसे विरक्त हों? धर्म के नाम पनप रही पापकारी प्रवृत्तियों से कैसे निवृत्त हों, सुपथगामी कैसे बनें? - इसप्रकार के उपायों का चिन्तन करना अपाय विचय धर्मध्यान है।

३. विपाक विचय - स्वत: या परकृत आपतित संकटकाल में उत्पन्न हुई आकुलता से बचने के लिए उस संकट को अपने ही कर्मोदय का फल मानकर साम्यभाव रखना विपाक विचय है।

४. संस्थान विचय - लोक के स्वरूप का विचार करना। यह पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत के भेद से चार प्रकार से किया जा सकता है।

५. उपाय विचय - आत्मा का कल्याण करने वाले जिनोपदिष्ट उपायों का चिन्तवन करना उपाय विचय है।

६. जीव विचय - जीवद्रव्य व जीवतत्त्व के स्वरूप एवं गुणस्थान आदि का चिन्तवन करना जीव विचय है।

७. अजीव विचय - अजीव द्रव्यों के स्वरूप का चिन्तवन करना अजीव विचय है।

८. विराग विचय - बारह भावना आदि के माध्यम से शरीर की अपवित्रता और भोगों की असारता का चिन्तवन करना विराग विचय है।

९. भव विचय - चारों गतियों में भ्रमण करने वाले जीवों को मरने के बाद जो पर्याय प्राप्त होती है, उसे भव कहते हैं। यह भव दुःखरूप है तथा यह मनुष्य भव, भव का अभाव करने को मिला है। भव (जन्म-मरण) बढ़ाने के लिए नहीं मिला - ऐसा चिन्तवन करना भव विचय धर्मध्यान है।

१०. कारण विचय (हेतु विचय) - तर्क व युक्ति का अनुसरण करते हुए स्याद्वाद की प्रक्रिया का आश्रय लेकर तत्त्व का चिन्तवन करना हेतु विचय है।

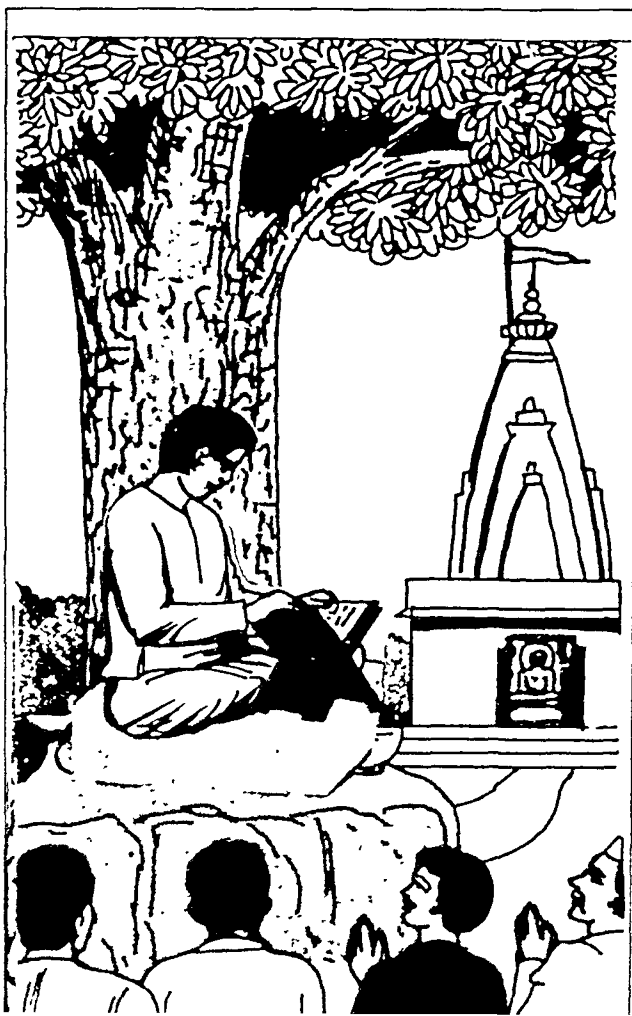
इनके सिवाय बाह्य व आभ्यन्तर के भेद से भी धर्मध्यान के दो भेदों का उल्लेख आगम में है।

शास्त्र के अर्थ खोजना, शीलव्रत पालना, गुणानुराग रखना, प्रसन्नचित्त होना तथा जिसे अन्य लोग भी अनुमान से जान सकें, उसे बाह्य धर्मध्यान कहते हैं। तथा जिसे केवल अपनी आत्मा ही जान सके, वह आभ्यन्तर धर्मध्यान है।

इसप्रकार धर्मध्यान के उपर्युक्त दस भेदों के आश्रय से अशुभभाव से बचे रहने रूप व्यवहार धर्मध्यान होता है तथा शुद्धात्मा के आश्रय से निश्चय धर्मध्यान होता है।

निश्चय धर्मध्यान की पूर्व भूमिका में इन शुभभाव रूप दस प्रकार के व्यवहार धर्मध्यानों का आश्रय अवश्य होता है।

ये सभी धर्म ध्यान सामूहिक स्वाध्याय के रूप में, तत्त्व गोष्ठी के रूप में, वाचना, पृच्छना आदि स्वाध्याय के भेदों के रूप में, बारह भावना के चिन्तवन के रूप में, सामायिक के रूप में, उठते-बैठते, चलते-फिरते तत्त्व विचार करने के रूप में आदि अनेक रूपों में हो सकते हैं।



एक श्रोता ने कहा - "गुरुजी! निश्चय ही यह ध्यान की चर्चा इस शिविर की अविस्मरणीय उपलब्धि होगी। इसके लिये आपका जितना भी उपकार माना जाय, कम ही होगा। इस चर्चा से हम सबको आशातीत अपूर्व लाभ प्राप्त हुआ है।" •

सायंकालीन सात बजे की गोष्ठी में सम्यत सेठ ने कहा -

"गुरुजी ! धर्मध्यान की बात तो कुछ-कुछ समझ में आई; पर यह शुक्लध्यान क्या होता है? क्या धर्मध्यान से बढ़कर भी कोई और ध्यान होता है?

धर्मेश ने कहा - हाँ भाई ! सर्वोत्कृष्ट ध्यान तो शुक्लध्यान ही है। वैसे देखा जाये तो निश्चय धर्मध्यान और शुक्लध्यान की विषयवस्तु में स्थूल दृष्टि से कोई विशेष अन्तर नहीं है, मात्र आत्मलीनता में वृद्धि होती है। ध्यान, ध्याता व ध्येय के विकल्प से रहित स्वरूप-विश्रान्ति ही निश्चय धर्मध्यान है तथा शुक्लध्यान में भी निर्विकल्प समाधि ही होती है; पर सूक्ष्मदृष्टि से देखें तो शुक्लध्यान मात्र उपशमश्रेणी व क्षपकश्रेणी में आठवें आदि गुणस्थानवाले ध्यानस्थ मुनियों को ही होता है। गृहस्थ की भूमिका में ऐसी योग्यता या सामर्थ्य प्रगट नहीं हो पाता कि उसे शुक्लध्यान हो जाये; जबकि धर्मध्यान का शुभारम्भ अविरतसम्यग्दृष्टि चौथे गुणस्थान से हो जाता है।

शुक्ल का सामान्य अर्थ सफेद होता है, पर यहाँ शुक्ल शब्द का प्रयोग निर्मलता के अर्थ में है। भगवान आत्मा स्फटिकमणि के समान पूर्ण निर्मल है, उज्ज्वल है। रागादि मल से रहित निर्मल स्वसंवेदन ज्ञान को शुक्ल कहते हैं। इसतरह निज शुद्धात्मा में विकल्प रहित समाधि ही शुक्लध्यान है।

शुक्लध्यान की परिभाषा लिखते हुए नियमसार की तात्पर्यवृत्ति टीका में कहा गया है कि "ध्यान, ध्याता, ध्येय व ध्यान के फल आदि के विविध विकल्पों से विमुक्त अन्तर्मुखाकार समस्त इन्द्रियसमूह से अगोचर निरंजन निजतत्त्व में अविचल स्थिति ही शुक्ल ध्यान है।"

प्रवचनसार की तात्पर्यवृत्ति टीका में भी यह लिखा है कि "रागादिविकल्प से रहित स्वसंवेदन ज्ञान को आगमभाषा में शुक्ल ध्यान कहा गया है।"

आ. पूज्यपाद स्वामी ने एवं अकलंकदेव ने शुक्ल ध्यान को परिभाषित करते हुये यह कहा है कि "**जिसमें शुचि गुण का सम्बन्ध है, वह शुक्ल ध्यान है - जैसे मैल हट जाने से वस्त्र शुचि होकर शुक्ल कहलाता है; उसी तरह निर्मल गुणयुक्त आत्म-परिणति शुक्ल ध्यान है।**"

कार्तिकेय अनुप्रेक्षा में लिखा है कि "**जहाँ गुण अति विशुद्ध होते हैं, जहाँ कर्मों का क्षय और उपशम होता है, जहाँ लेश्या भी शुक्ल होतीहै; उसे शुक्ल ध्यान कहते हैं।**

ज्ञानार्णव ग्रन्थ में शुक्ल ध्यान का स्वरूप विशेष स्पष्ट किया है, जो इस प्रकार है - "**जो निष्क्रिय व इन्द्रियातीत है। 'मैं ध्यान करूँ'** इस प्रकार के ध्यान की धारणा से रहित है, जिसमें चित्त अन्तर्मुख है, वह शुक्ल ध्यान है।"

यह शुक्ल ध्यान वैडूर्यमणि की शिखा के समान सुनिर्मल और निष्कम्प होता है।

द्रव्यसंग्रह में इसतरह के ध्यान की भूमिका प्राप्त करने की प्रेरणा देते हुए कहा गया है कि - "**हे भव्य ! कुछ भी चेष्टा मत कर, कुछ भी मत बोल, कुछ भी चिन्तवन मत कर, जिससे आत्मा निजात्मा में तल्लीन होकर स्थिर हो जावे। आत्मा में पूर्णरूप से तल्लीन होना ही परम शुक्ल ध्यान है।**"

ध्यान रहे, यह शुक्ल ध्यान मुनियों को ही होता है, गृहस्थों में ऐसी पात्रता नहीं होती।

इस शुक्लध्यान की उत्तरोत्तर वृद्धिंगत चार श्रेणियाँ हैं -

१. पृथकत्ववितर्क वीचार - शुक्लध्यान के इस प्रथम भेद में अनेक द्रव्य ज्ञान के ज्ञेय वनते हैं, ध्यान के विपय वनते हैं, और इन विषयों का ध्यान करते समय उपशमश्रेणी चढ़नेवाले उपशान्तमोही मुनि के मन-वचन-काय (योगों) का परिवर्तन होता है; जिसे योगसंक्रान्ति कहते हैं। इसप्रकार उपयोग में अबुद्धिपूर्वक ज्ञेय पदार्थों की तथा योग प्रवृत्तियों की संक्रान्ति होती है।

यह संक्रान्ति आगे की एकत्ववितर्क वीचार आदि श्रेणियों में नहीं होती। वहाँ उपयोग रत्नदीप की ज्योति की भाँति निष्कम्प होकर ठहर जाता है।

२. एकत्ववितर्क वीचार - शुक्लध्यान के इस द्वितीय भेद में एक द्रव्य का ही आश्रय होता है। इसमें ज्ञेय से ज्ञेयान्तर संक्रमण नहीं होता। यह ध्यान क्षीणमोह नामक वारहवें गुणस्थानवर्ती मुनिराज को होता है।

३. सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाती - शुक्लध्यान की यह तृतीय श्रेणी सयोगकेवली - तेरहवें गुणस्थानवर्ती सर्वज्ञ भगवान के होती है। इस गुणस्थान के अन्तिम अन्तर्मुहूर्तकाल में जव भगवान स्थूल योगों का निरोध करके सूक्ष्म योग में प्रवेश करते हैं, तव उनको सूक्ष्म क्रियाप्रतिपाती नामक तीसरा शुक्लध्यान होता है।

४. व्युपरतक्रियानिवर्तीनि - यह शुक्लध्यान अयोगकेवली के चौदहवें गुणस्थान में योग का पूर्ण निरोध हो जाने पर होता है।

इनके सिवाय वाह्य शुक्लध्यान एवं आध्यात्मिक शुक्लध्यान के भेद से भी शुक्लध्यान के दो भेद होते हैं।

शरीर और नेत्रों का स्पन्द रहित होना, जंभाई आदि नहीं होना, स्वासोछ्वास का प्रचार व्यक्त न होना बाह्य शुक्लध्यान है तथा जहाँ केवल आत्मा का स्वसंवेदन हो, वह आध्यात्मिक शुक्ल ध्यान है।

ऐसा ध्यान करने से आत्मा में लगे अनादिकालीन कर्ममल का सर्वथा अभाव होकर आत्मा पूर्ण निर्मल हो जाता है, मुक्त होकर सदा के लिए अतीन्द्रिय आनन्द में मग्न हो जाता है।

प्रत्यक्ष अनुभूति तो मात्र ध्यानस्थ मुनिराजों को ही होती है। वह भी उपशम एवं क्षपकश्रेणीवालों को। अत: इस विषय में तो इतने से ही संतोष करना होगा। हम यह भावना भायें कि वह अवसर हमें शीघ्र प्राप्त हो, जब हम शुक्लध्यान को प्राप्तकर परमात्मदशा को प्राप्त करें।

विषय सूक्ष्म था, पर जाननेलायक था; अत: सभी आत्मार्थी जिज्ञासु भाइयों ने इस गंभीर चर्चा को भी मनोयोगपूर्वक सुना और धर्मेश को इस सूक्ष्म चर्चा के लिए मन ही मन धन्यवाद दिया और भावना भायी कि - यह महापुरुष दीर्घ-जीवी हो, ताकि लम्बे समय तक लोगों को इसके ज्ञान का लाभ मिल...

३५

धर्मेश की अन्तर्रात्मा से निकले करुण और शांत रस से ओत-प्रोत मर्मस्पर्शी उद्गारों ने तो श्रोताओं को प्रभावित किया ही; उसके अन्तर्बाह्य व्यक्तित्व ने भी आस-पास के वातावरण को तत्त्वज्ञान की सुरभि से सुरभित कर दिया था। जैनों के सिवाय अनेक हिन्दू एवं मुसलमान भाई भी उसके दैनिक श्रोता बन गये।

सुनन्दा, सुनयना और उनके सभी साथी तो मानो कृतार्थ ही हो गये। इन लोगों को तो ज्योंही अपने पुराने दिन याद आते तो उनके रोंगटे खड़े हो जाते, रूह काँप जाती। इन्हें तो अब धर्मेश ही अपना सर्वाधिक शुभचिन्तक लगने लगा था। अत: कोई भी प्रसंग हो, धर्मेश याद आये बिना नहीं रहता।

जब कभी फुरसत के समय घंटा आधा घंटा एक साथ बैठते तो बस धर्मेश की ही चर्चा छिड़ जाती।

अमित कहता - "सचमुच धर्मेश जैसा व्यक्ति इस युग में तो दिखाई नहीं देता। एक दिन वह था जब मुझे अपनी पढ़ाई पर गर्व था और धर्मेश पर मुझे मित्र के नाते दया आती थी। उसके अनपढ़ रह जाने का मुझे अफसोस रहा करता था, तरस आता था उसके पिछड़ेपन पर; परन्तु देखते ही देखते वह पिछड़ा व्यक्ति कितना आगे बढ़ गया ? कहाँ से कहाँ पहुँच गया और मैं अपने को तीसमारखाँ समझने वाला कहाँ जा गिरा ?

मैं जानता हूँ कि यह बस अचानक नहीं हुआ। ये बीज तो उसमें बचपन से ही थे, पर हरएक को ऐसी परख कहाँ होती है ? मैं भी उन्हीं में से एक हूँ, जो उसे पहचान ही नहीं पाया। वह सचमुच धूल में ढका हीरा निकला।

एक वह, जिस पर आज हम-तुम ही क्या, सारी दुनिया नाज करती है। जो एक बार भी उसके सम्पर्क में आता है, उस पर समर्पित हो जाता है। दूसरा

में हूँ, जो न केवल धर्मेश की दृष्टि में; बल्कि उसके समग्र समाज की दृष्टि में दया का पात्र बन गया हूँ।

सचमुच यह धर्म का ही कोई अद्भुत प्रभाव है, जिसकी मैंने अबतक कोई कद्र नहीं की। निरंतर अप्रशस्त परिणामों में ही जिया। होनी के अनुसार हानि होनी थी सो हो गई। जब-जब मुझे ऐसा पश्चाताप होता है और मैं धर्मेश से अपने दिल का दर्द कहता हूँ तो मालूम है! वह क्या कहता है? वह कहता है भाई! यह कोई बड़ी हानि नहीं हुई। अभी भी कुछ नहीं बिगड़ा। तुम ही क्या? अभी तो हम-तुम-सभी एक ही श्रेणी में हैं, स्वभाव से तो सभी भगवान हैं; पर भूले हुये भगवान हैं। सत्य बात समझ में आने का भी अपना समय होता है। अतः भूत को भूलो, भविष्य की चिन्ता छोड़ो और वर्तमान में आध्यात्मिक अध्ययन, मनन, चिंतन करो; सब ठीक हो जायेगा।"

सम्पत सेठ ने कहा - "हाँ भाई अमित! तुम ठीक कह रहे हो। धर्मेश ऐसा ही महान आत्मा है। यदि और कोई होता तो आश्वस्त करने के बजाय बचपन में हुए हमारे दुर्व्यवहार की याद दिला-दिला कर हमें नीचा दिखाता और अपमानित करता। पर धर्मेश वह तो सचमुच देवता है, देवता।

मुझे ही देखो न! मैंने अपनी सेठाई के अभिमान में जिनकी थोड़ी भी उपेक्षा की, वे आज बड़े क्या बन गए; मुझसे एक-एक बात का बदला लेने पर तुले रहते हैं। ऐसी है जगत की प्रवृत्ति। वह तो धर्मेश ही ऐसा है, जिसने भूत को भुलाकर अपन लोगों पर असीम उपकार किया है। धर्मेश के कारण ही मुझे धर्म का कुछ-कुछ ज्ञान हुआ है। सचमुच मुझे तो उन्होंने - कहो सेठ! कहो सेठ!! की थपकियाँ दे-दे कर कुम्हार के घड़े की तरह गढ़ा है। अन्यथा हम तो सुबह से शाम तक अपने नकली प्रशंसकों और चापलूसों से घिरे रहकर दानवीर, धर्मात्मा, कर्मवीर, धर्मवीर और न जाने क्या-क्या लम्बे-चौड़े विशेषणों से युक्त प्रशंसा की मदिरा पी-पीकर पागल हो रहे थे और न्याय-अन्याय से अर्जित धन को उनके कहे अनुसार पानी की तरह बहा कर उससे प्रसन्न हो कर परिग्रहानन्दी रौद्रध्यान कर रहे थे।

हमें कुछ भी पता नहीं था कि - **इन भावों का फल क्या होगा ?** सचमुच यदि धर्मेश के रूप में यह धर्मावतार न मिला होता तो हमने तो नरक की ही तैयारी कर ली थी। धन्य है इस सत्पुरुष को। यह दीर्घायु हो और हम सबके कल्याण में निमित्त बना रहे - मेरी तो यही मंगल भावना है।''

मनमोहन यह सब सुन-सुनकर गद्‌गद् हो गया। आँसू पोंछते हुए बोला - ''यदि हम लोगों को धर्मेश का सत्समागम न मिला होता, धर्मेश से प्रेरणा और आश्वासन न मिला होता, उनकी अमृतमय वाणी सुनने को नहीं मिली होती तो हम तो दुर्व्यसनों की दल-दल से निकल ही नहीं पाते। धर्मेश के प्रवचनों के अलावा उनके पवित्र जीवन से भी मुझे प्रेरणा मिली है। आज मैं जो कुछ भी समझ सका हूँ, धर्मेश की देन है।''

सुनयना और सुनन्दा तो फूट-फूट कर ही रो पड़ीं। नारियाँ भावुक तो स्वभावत: होतीं ही हैं। फिर धर्मेश के सत्समागम से इन्हें जो वचनातीत लाभ हुआ था, उससे वे गद्‌गद् हो रहीं थीं। वे कुछ न कह सकीं, पर कुछ न कह कर भी उन्होंने उद्धव की गोपियों की भाँति आँसुओं और हिचकियों से सब कुछ कह दिया -

नेकु कही बैननि, अनेक कही नैननि,
रही-सही सोऊ कह दीनी हिचकीन सौं।

सम्पत सेठ से चुप नहीं रहा गया। वह पुन: बोला - ''देखो, पुण्योदय से मुझे किसी खास आधि-व्याधि ने नहीं सताया, कोई मानसिक चिन्तायें नहीं रहीं, शारीरिक रोग नहीं हुए; तो मैं जनसेवा, समाजसेवा की उपाधियों में ही उलझ गया और वह काम भी पवित्र भाव से नहीं कर पाया। उनमें भी यश, प्रतिष्ठा का लोभ तो रहा ही, साथ में व्यक्तिगत स्वार्थ भी कम नहीं रहा। जिन्हें कहने में ही लज्जा आये, ऐसी पाप प्रवृत्तियों में भी उलझ गया। यदि धर्मेश जैसे सत्पुरुष का समागम न मिला होता तो मैं तो उन अप्रशस्त भावों के कीचड़ से निकल ही नहीं पाता।

एक प्रवचन में धर्मेश ने कहा था कि – जो व्यक्ति राष्ट्रसेवा एवं समाज-सेवा के नाम पर ट्रस्ट बनाकर अपने काले धन को सफेद करते हैं और उस धन से 'एक पंथ अनेक काज' साधते हैं – उनकी तो यहाँ बात ही नहीं है; उनके वे भाव तो स्पष्ट रूप से अप्रशस्त भाव ही हैं। गहराई से देखा जाय तो वे तो अपनी रोटियाँ सेकने में ही लगे हैं। वे स्वयं ही समझते होंगे कि सचमुच वे कितने धर्मात्मा हैं; पर जो व्यक्ति अपने धन का सदुपयोग सचमुच लोक कल्याण की भावना से जनहित में ही करते हैं, इसके पीछे जिनका यश-प्रतिष्ठा कराने का कतई/कोई अभिप्राय नहीं होता, उन्हें भी एकबार आत्मनिरीक्षण तो करना ही चाहिए कि उनके इन कार्यों में कितनी धर्मभावना है, कितनी शुभभावना है और कितना अशुभभाव वर्तता है ? आँख मींचकर अपने को धर्मात्मा, दानवीर आदि माने बैठे रहना कोई बुद्धिमानी नहीं है।

धर्मेश के इस उपदेश ने मेरी तो आँखें ही खोल दीं। [illegible] निजी ट्रस्ट हैं, उन सबके पीछे मेरे व्यक्तिगत स्वार्थ जुड़े हैं। [illegible] कार्य प्रशस्त आर्तध्यान की या शुभभावों की कोटि में [illegible] की बात तो बहुत दूर रही।

सच बात तो यह है कि – यदि किसी ने [illegible] होगा कि अल्पफल व बहु विघात तो नहीं हो रहा [illegible] अनेकों की जानें तो नहीं जा रहीं। दवाओं के [illegible] अभक्ष्य पदार्थों का उपयोग तो नहीं हो रहा। [illegible] उपयोग तो नहीं हो रहा।

धर्मशालायें कहीं कर्मशालायें, [illegible] अड्डे तो नहीं बनती जा रही हैं। धार्मिक [illegible] वाले स्कूलों व कॉलेजों में [illegible] प्राणियों के [illegible] केन्द्र तो नहीं बन रहे हैं ?

अनाथालय, विधवा आश्रम और [illegible] अनाथों के [illegible] बनने के [illegible]

भरण-पोषण करने के बजाय उनका शारीरिक, आर्थिक व मानसिक रूप से शोषण तो नहीं हो रहा है ?

यदि ये ट्रस्ट और संस्थाएं बिल्कुल सही ढंग से चलते रहें, अपने-अपने पावन उद्देश्यों की पूर्ति करते रहें तो भी प्रशस्त शुभभाव होने से पुण्यबंध के ही कारण होंगे, धर्म तो तब भी नहीं होगा; क्योंकि धर्म तो वीतराग परिणति का नाम है, रागभाव से धर्म नहीं होता।

धर्मेश के ऐसे युक्तिसंगत और क्रान्तिकारी विचारों को स्मरण करते हुये सम्पत सेठ ने कहा - "धर्मेश के प्रवचनों से मेरा जीवन तो सुधरा ही, अन्य नवागंतुक श्रोता भी प्रभावित हुये तथा विराग के साथ आया उसका अनुज अनुराग का जीवन भी आमूलचूल बदल गया। वस्तुस्थिति सुनकर उसकी भी आँखें खुल गईं।

धीरे-धीरे धर्मेश की ख्याति चारों ओर फैलने लगी। सम्पत सेठ तो पूर्ण समर्पित हो ही गया था। बड़े-बड़े राजनेता भी जिज्ञासा वश उन्हें सुनने यदा-कदा पहुँच जाते।

एक बार की बात है - अहिंसा के पुजारी के रूप में प्रसिद्ध एक बहुत बड़े राजनेता, जिन्होंने पशुवध बन्द करने का आन्दोलन छेड़ रखा था और उन्हें इस बात का गर्व था कि 'मैं जीवों की रक्षा करता हूँ, कर सकता हूँ,' एकबार प्रसंगवश धर्मेश की सभा में पहुँच गये। संयोग से उस समय धर्मेश का व्याख्यान भी अहिंसा पर हो रहा था। समयसार के बंध अधिकार की गाथाओं को स्मरण करते हुए धर्मेश कह रहे थे -

"मैं मारता हूँ अन्य को, या मुझे मारें अन्य जन।
यह मान्यता अज्ञान है, जिनवर कहें हे ! भव्यजन॥
मैं हूँ बचाता अन्य को, मुझको बचावे अन्यजन।
यह मान्यता अज्ञान है, जिनवर कहें हे ! भव्यजन॥
मैं सुखी करता दुःखी करता हूँ, जगत में अन्य को।
यह मान्यता अज्ञान है, क्यों ज्ञानियों को मान्य हो॥

निज आयु क्षय से मरण हो यह बात जिनवर ने कही।
तुम मार कैसे सकोगे जब आयु हर सकते नहीं॥
सब आयु से जीवित रहें यह बात जिनवर ने कही।
हैं सुखी होते दुःखी होते, कर्म से सब जीव जब।
तू कर्म दे सकता न जब, सुख-दुःख दे किस भाँति तब ?"

इन छन्दों का अर्थ स्पष्ट करते हुए धर्मेश ने कहा था - "जो ऐसा मानता है कि - मैं किसी को बचाता हूँ, बचा सकता हूँ, वह मूढ़ है, अज्ञानी है।"

धर्मेशजी का यह भाषण सुनकर नेताजी को पहले तो कुछ अटपटा लगा, लगना ही चाहिए था; परन्तु जब पूरा व्याख्यान सुना तो वे जैनधर्म की अहिंसा की गहराई को समझकर बहुत ही प्रभावित हुए और उन्होंने दूसरे दिन भी प्रवचन सुनने की भावना प्रकट की।

नेताजी ने मुस्करा कर अपने साथी-सहयोगियों से कहा था - मैं उन संत का व्याख्यान सुनना चाहता हूँ जो मुझे कल मूढ़ कह रहे थे। सचमुच, कौन किसको मार-बचा सकता है ? हम तो केवल झूठा अहंकार ही करते हैं। हाँ, हमारे मन में जो दया का भाव है, हमें तो उससे पुण्यबन्ध होता है और जो निर्दयता का, क्रूरता का भाव है; उससे पापबन्ध होता है। उस संत की यह बात शत-प्रतिशत सत्य है।

इसप्रकार जो भी धर्मेश को सुनता, प्रभावित हुए बिना नहीं रहता। जैनधर्म की तह तक पहुँचने का भाव उसमें जग ही जाता। धर्मेश को भी इस बात का संतोष था कि - जिनवाणी की बात जन-जन तक पहुँच रही है और लोग अपनी वर्तमान परिणति की पहचान कर इस पर भी गंभीरता से विचार करते हैं कि - **इन भावों का फल क्या होगा ?**

इसप्रकार लोगों के हृदय परिवर्तन होते देख-देखकर धर्मेश भी मन ही मन भारी प्रसन्न होते।

स्वरूप सेठ के मन में धर्मेश के प्रति जो श्रद्धा और सम्मान [illegible] वह नाना प्रकार से वाणी में व्यक्त होने लगा। सेठ के [illegible] सुन-सुनकर और भी अनेक लोगों के हृदय परिवर्तित हुये।



जिससे जिज्ञासु जीवों की जिज्ञासा का शमन होता है, चिरकालीन ज्ञान की प्यास बुझती दिखाई देती है; स्वभावतः उसके प्रति कृतज्ञता का भाव जागृत हुये बिना नहीं रहता।

लाभानन्द भी धर्मेश के अन्तर्बाह्य व्यक्तित्व और ज्ञान-गरिमा से प्रभावित होकर उसे अपना गुरु मानने लगा था। धर्मेश के द्वारा आर्त, रौद्र और धर्मध्यान की सटीक हृदयस्पर्शी मार्मिक व्याख्या सुनकर लाभानन्द बहुत खुश था। धर्मेश का सान्निध्य पाकर वह अपने जीवन को धन्य मानने लगा था। अबतक उसे जो धर्मध्यान के साधन के रूप हैं - योगासन और प्राणायाम के शिविर लगाने का आग्रह रहा करता था, वह आग्रह भी धर्मेश के आगमसम्मत एवं युक्ति संगत विचार सुनने से जड़मूल से उखड़ गया था; परंतु धर्म के नाम पर क्रिया रूप में कुछ न कुछ करने की मनोवृत्ति और बाह्याचार में अभिरुचि होने से ध्यान जैसे चिन्तन के विषय को भी प्रयोगात्मक क्रिया के रूप में करने का आग्रह अभी भी बना हुआ था।

लाभानन्द का सोच था कि कोरी बातों ही बातों में धर्म कैसे हो जायेगा ? कुछ करना भी चाहिए न ?

एक दिन धर्मेश को अच्छे मूड में, प्रसन्न मुद्रा में देखकर लाभानन्द ने कहा - "गुरुजी ! इन प्रवचनों एवं ज्ञान-गोष्ठी में जो ध्यान का विषय चल रहा है, उससे बहुत लोग लाभान्वित व प्रभावित हुये हैं, हो रहे हैं। जहाँ देखो वहीं यह विषय खूब चर्चित हो रहा है। आर्तरौद्र ध्यानों के भयंकर दुष्परिणामों के भावपूर्ण चित्रण से सभी लोग बहुत प्रभावित हैं। आपके इन प्रवचनों को सुनकर मेरे तो रोंगटें खड़े हो जाते हैं।

यदि आपने हमारा ध्यान आकर्षित नहीं किया होता तो हमें तो कुछ पता ही नहीं था, हमारा ध्यान ही इधर नहीं गया कि जो हम दिन-रात आर्त, रौद्र-ध्यान रूप पापभाव करते हैं, 'इन भावों का फल क्या होगा ?'

अब ऐसा लगने लगा है कि इन आर्त-रौद्र रूप भावों से कैसे बचा जावे ; इनसे बचने के लिए क्या किया जावे ?"

धर्मेश ने कहा - "लाभानन्द ! इसका एक ही उपाय है - तत्त्वाभ्यास।

तत्त्वाभ्यास के बल से जब परपदार्थ इष्ट-अनिष्ट ही भासित नहीं होंगे, तो स्वतः ही धीरे-धीरे आर्त, रौद्र ध्यान कम होंगे और धर्मध्यान में उपयोग अधिक लगने लगेगा।"

लाभानन्द ने विनम्रतापूर्वक पुनः निवेदन किया - "आपने जो धर्मध्यान की चर्चा की, उससे धर्मध्यान का वैचारिक पक्ष तो बहुत ही अच्छा स्पष्ट हो गया। सोचने-विचारने की विपुल विषयवस्तु भी ध्येय के रूप में सामने आ गई। अब क्यों न इसी ध्येयरूप विषयवस्तु को प्रयोग पद्धति से अपने जीवन का अभिन्न अंग बनाने के लिये कोई ऐसी योजना बनाई जाये, जैसी कि योग साधना और ध्यान शिविर लगाने वाले करते हैं ?

क्या जिनागम में ध्यान की प्रयोग पद्धति का कहीं/कोई विवरण नहीं मिलता। मुनिजन ध्यान तो करते ही हैं न ? क्यों न मुनिजनों की प्रयोग पद्धति को ही आंशिक रूप से हम भी अपनायें ? मुझे ऐसा लगता है कि कोरी बातें करते रहने से कुछ भी उपलब्धि नहीं होगी।"

धर्मेश ने लाभानन्द की रुचि और पात्रता का विचार कर कहा - "भाई ! तत्त्वचर्चा को 'कोरी बातें' कहकर इसकी उपेक्षा करना ठीक नहीं है। मैं तुम्हारी भावना को समझ रहा हूँ। तुम्हें ध्यान के लिये कोई आलम्बन चाहिए, धर्मध्यान के योग्य वातावरण चाहिए, कुछ न कुछ करने को चाहिए। संभवतः तुम जैसे, जीवों के लिए ही आचार्य माघनन्दि ने 'ध्यानसूत्राणि' नाम से तीन अध्यायों में विभाजित १३४ सूत्रों की एक आध्यात्मिक रचना की है। उन सूत्रों के आधार से एकान्त में धर्मध्यान करने का प्रयोगात्मक अभ्यास किया जा सकता है।

धर्मध्यान के साधनों के रूप में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण होती है त्रियोगशुद्धि। मनशुद्धि, वचनशुद्धि, कायशुद्धि - इन तीनों का एक नाम त्रियोगशुद्धि है। एतदर्थ साधक को जितनी देर धर्मध्यान करना हो, उतनी देर के लिए यथा सम्भव अन्य सब शल्यों से निशल्य होकर, सब कार्यों के भार से निर्भार होकर तथा सभी चिन्ताओं से निश्चिन्त एवं निराकुल होकर शोक-भय-विषाद आदि से रहित हो मनको शुद्ध करना मन शुद्धि है। मौन धारण करना वचन शुद्धि है तथा स्नानादि रूप बाह्य शुद्धि तथा भूख-प्यास, मल-मूत्र की बाधाओं से निवृत्त होने रूप अन्तरंगकायशुद्धि है।

आचार्य शुभचन्द्र ने ध्यान के योग्य स्थान का वर्णन करते हुए एकदम शान्त, क्षोभरहित स्वच्छ और बिल्कुल एकान्त स्थान ही धर्मध्यान के लिये उपयुक्त बताया है।

वे लिखते हैं - सिद्ध क्षेत्र, संतों की साधनास्थली, तीर्थों के कल्याणक क्षेत्र, समुद्र के समीप, वनप्रांतर नदीतट, पर्वतशिखर, गुफा, श्मशान, नीरवस्थान, उपद्रव रहित निर्जन स्थान ही ध्यान योग्य हैं।

ध्यानाभ्यास की प्रारम्भिक पृष्ठभूमि में निराकार निज आत्मा का ध्यान किन्हीं साकार प्रतीकों के आलम्बन से ही हो सकता है। एतदर्थ जिनवाणी में **जिनेन्द्र प्रतिमायें, मंत्रों के उच्चारण और स्तोत्र पाठ आदि साकार प्रतीक रूप आलम्बन स्वीकार किये गये हैं। इनके आलम्बन से हुये आत्मध्यान को ही सावलम्ब ध्यान कहते हैं तथा जिस आत्मध्यान में मंत्र आदि के आलम्बन न हो, उसे निरावलम्ब ध्यान कहते हैं।** इन सावलम्ब एवं निरावलम्ब के भेद से दो प्रकार के ध्यानों का उल्लेख भी आगम में मिलता है।

सावलम्बन ध्यान करने हेतु सर्वप्रथम साधक अपने देह देवालय में विराजमान भगवान आत्मा को निर्मल जल के रूप में अनुभव करे और अपने राग-द्वेष भरे मन को आत्मारूपी जल में डुबोये। जब भी मन वहाँ से हटे तो तुरंत अर्ह, सोऽहं, सिद्ध, अरहंत-सिद्ध, ॐ आदि मंत्र पढ़ने लगे। मंत्र पढ़ते-पढ़ते पुनः उसी आत्मारूपी जल में डुबोये। इस क्रिया को पलट-पलट कर

धर्मध्यान के साधनों के रूप में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण होती है त्रियोगशुद्धि। मनशुद्धि, वचनशुद्धि, कायशुद्धि - इन तीनों का एक नाम त्रियोगशुद्धि है। एतदर्थ साधक को जितनी देर धर्मध्यान करना हो, उतनी देर के लिए यथा सम्भव अन्य सब शल्यों से निशल्य होकर, सब कार्यों के भार से निर्भार होकर तथा सभी चिन्ताओं से निश्चिन्त एवं निराकुल होकर शोक-भय-विषाद आदि से रहित हो मनको शुद्ध करना मन शुद्धि है। मौन धारण करना वचन शुद्धि है तथा स्नानादि रूप बाह्य शुद्धि तथा भूख-प्यास, मल-मूत्र की बाधाओं से निवृत्त होने रूप अन्तरंगकायशुद्धि है।

आचार्य शुभचन्द्र ने ध्यान के योग्य स्थान का वर्णन करते हुए एकदम शान्त, क्षोभरहित स्वच्छ और बिल्कुल एकान्त स्थान ही धर्मध्यान के लिये उपयुक्त बताया है।

वे लिखते हैं - सिद्ध क्षेत्र, संतों की साधनास्थली, तीर्थों के कल्याणक क्षेत्र, समुद्र के समीप, वनप्रांतर नदीतट, पर्वतशिखर, गुफा, श्मशान, नीरवस्थान, उपद्रव रहित निर्जन स्थान ही ध्यान योग्य हैं।

ध्यानाभ्यास की प्रारम्भिक पृष्ठभूमि में निराकार निज आत्मा का ध्यान किन्हीं साकार प्रतीकों के आलम्बन से ही हो सकता है। एतदर्थ जिनवाणी में **जिनेन्द्र प्रतिमायें, मंत्रों के उच्चारण और स्तोत्र पाठ आदि साकार प्रतीक रूप आलम्बन स्वीकार किये गये हैं। इनके आलम्बन से हुये आत्मध्यान को ही सावलम्ब ध्यान कहते हैं तथा जिस आत्मध्यान में मंत्र आदि के आलम्बन न हो, उसे निरावलम्ब ध्यान कहते हैं।** इन सावलम्ब एवं निरावलम्ब के भेद से दो प्रकार के ध्यानों का उल्लेख भी आगम में मिलता है।

सावलम्बन ध्यान करने हेतु सर्वप्रथम साधक अपने देह देवालय में विराजमान भगवान आत्मा को निर्मल जल के रूप में अनुभव करे और अपने राग-द्वेष भरे मन को आत्मारूपी जल में डुबोये। जब भी मन वहाँ से हटे तो तुरंत अर्हं, सोऽहं, सिद्ध, अरहंत-सिद्ध, ॐ आदि मंत्र पढ़ने लगे। मंत्र पढ़ते-पढ़ते पुनः उसी आत्मारूपी जल में डुबोये। इस क्रिया को पलट-पलट कर

"मैं सहज पारिणामिक भाव स्वभाव हूँ। मैं सहज शुद्ध ज्ञानानन्द स्वभावी हूँ। मैं चैतन्य-कला स्वरूप हूँ। मैं द्रव्यकर्म-भावकर्म-नोकर्म रहित चैतन्यमूर्ति हूँ। मैं चैतन्य गुण-रत्नों का समुद्र हूँ। मैं चैतन्यमय अमर कल्पवृक्ष हूँ। मैं शुद्ध चैतन्यमय ज्ञानामृत का पान करने वाला हूँ। मैं शुद्ध चैतन्य रूप रस से बने हुये रसायन स्वरूप हूँ। मैं चैतन्य चिन्ह स्वरूप हूँ। मैं समस्त पदार्थों को प्रकाशित करने वाली केवलज्ञान ज्योति स्वरूप हूँ। मैं उस ज्ञानामृत प्रवाह स्वरूप हूँ। मैं पापरहित-निष्पाप स्वरूप हूँ। मैं चिन्मात्र स्वरूप हूँ। मैं शुद्ध अखण्ड एक मूर्तिस्वरूप हूँ। मैं अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान व अनन्त सुख स्वरूप हूँ। मैं अनन्त शक्ति स्वरूप हूँ।[1]

मैं परमानन्द स्वरूप हूँ, परमज्ञानानन्द स्वरूप हूँ, सदानन्द स्वरूप हूँ, चिदानन्द स्वरूप हूँ, निजानन्द स्वरूप हूँ, निज निरंजन स्वरूप हूँ, सहज सुखानंदस्वरूप हूँ, नित्यानन्द स्वरूप हूँ। शुद्धात्म स्वरूप हूँ, समयसार स्वरूप हूँ।[2]

मैं परम मंगल स्वरूप हूँ, परम उत्तम स्वरूप हूँ, परम शरणस्वरूप हूँ, सम्पूर्ण कर्मों के क्षय को कारणस्वरूप हूँ। मैं परम समाधि स्वरूप हूँ। मैं परम भेदज्ञान स्वरूप हूँ।

१. सहज शुद्ध पारिणामिकभाव स्वभावोऽहम्; सहज शुद्ध ज्ञानानन्दैक स्वभावेऽहम्; चित्कला स्वरूपोऽहम्, चिन्मात्र मूर्ति स्वरूपोऽहम्; चैतन्य रत्नाकर स्वरूपोऽहम्; चैतन्य द्रुम स्वरूपोऽहम्; शुद्ध चैतन्यामृताहार स्वरूपोऽहम्, चैतन्य चिन्ह स्वरूपोऽहम्; ज्ञान ज्योति स्वरूपोऽहम्; ज्ञानामृत प्रवाह स्वरूपोऽहम्; निरवद्य स्वरूपोऽहम्, शुद्ध चिन्मात्र स्वरपोऽहम्; शुद्धाखण्डैक मूर्तस्वरूपोऽहम्; अनन्तदर्शन-ज्ञान-सुख स्वरपोऽम्; अनन्त शक्ति स्वरूपोऽहम्;

२. परमानन्द स्वरूपोऽहम्, परमज्ञानान्द स्वरूपोऽहम्, सदानन्द स्वरूपोऽहम्, चिदानन्द स्वरूपोऽहम्, निजानन्द स्वरूपोऽहम्, सहज सुखानन्द स्वरूपोऽहम्, शुद्धात्म स्वरूपोऽहम्, समयसार स्वरूपोऽहम्,

परममंगल स्वरूपोऽहम्, परमोत्तमस्वरूपोऽहम्, परम शरणोऽहम्, सकल कर्मक्षय कारण स्वरूपोऽहम्, परम समाधिस्वरूपोऽहम्, परम भेदज्ञान स्वरूपोऽहम्.

"मैं राग-द्वेष-मोह क्रोध-मान-माया-लोभ रूप विकार से भिन्न अविकारी आत्मा हूँ, मैं पंचेन्द्रिय विषय-व्यापाररूप सुखाभास से भिन्न शास्वत सुख स्वरूप हूँ, मैं मन-वचन-काय की जड़ क्रियाओं से भिन्न चेतन ज्ञानमूर्ति हूँ, मैं भावकर्म-द्रव्यकर्म-नोकर्म के प्रभाव से परे अप्रभावी आत्मा हूँ, मैं पुण्याधीन ख्याति-लाभ-पूजा से पृथक् पूर्ण स्वाधीन स्ववस्तु हूँ, मैं संसार की हेतुभूत माया, मिथ्यात्व और भोगकांक्षारूप निदान शल्यों से भिन्न निःशल्य आत्मा हूँ, मैं शब्दगारव, रसगारव, ऋद्धिगारव से रहित मार्दवधर्म स्वभावी हूँ, मैं अन्तर्वाह्यजल्प-स्वरूप मन-वचन और जड़ प्राणमय शरीर से भिन्न चैतन्य प्राणमय आत्मा हूँ।"[1]

इसप्रकार प्रथम सूत्र के आधार से चिन्तन करे कि - मैं समस्त विभाव भावों से भिन्न ज्ञानानन्द स्वभावी आत्मा हूँ।

दूसरे सूत्र के आधार से यह सोचे कि - "मैं स्वभाव से सर्व दोषों से भिन्न निरंजन शुद्धात्मतत्त्व हूँ। अपने इस शुद्धात्म तत्त्व का सम्यक् श्रद्धान-ज्ञान व उसी में तन्मयतारूप, आचरणरूप अभेद रत्नत्रय की साधना से निर्विकल्प समाधि प्राप्त होती है। उस निर्विकल्प समाधि से वीतरागी सहजानन्द की सुखानुभूति होती है; वह वीतरागी सहजानंद ही मेरा प्रगट स्वरूप है, लक्षण है। उसी वीतरागी सहजानन्द से मेरे आत्मा में स्व-संवेदन की प्राप्ति होती है और उस स्व-संवेदन से स्वात्मा में लीनतारूप सम्यक् चारित्र में दृढ़ता होती जाती है। मैं उसी अभेद रत्नत्रय से भरपूर हूँ।"[2]

इसी प्रकार अपनी शक्ति के अनुसार इन आध्यात्मिक सूत्रों के आलंबन से आत्मा के स्वरूप का ध्यान करना चाहिए। विचारना चाहिए कि -

---

१. राग-द्वेष-मोह, क्रोध-मान-माया-लोभ, पंचेन्द्रियविषय व्यापार, मनोवच कायकर्म, भावकर्म-द्रव्यकर्म-नोकर्म, ख्याति-पूजा-लाभ, दृष्ट श्रुतानुभूत भोगकांक्षारूप निदान-माया-मिथ्यात्व शल्पत्रय, गारवत्रय, दण्डत्रयादि विभाव परिणाम शून्योऽहं ॥१॥

२. निज निरंजन स्वशुद्धात्म सम्यक्श्रदानज्ञानानुष्ठान रूपाभेद रत्नत्रयात्मक निर्विकल्प समाधिसंजात वीतराग सहजानन्द सुखानुभूतिरूप मात्रलक्षणे स्वसंवेदनज्ञान सम्यक् [illegible]

३७

"चींटी की चाल चलनेवाला व्यक्ति भी यदि सही दिशा में चल रहा हो तो देर-अवेर ही सही, पर कभी न कभी तो अपने लक्ष्य को प्राप्त कर ही लेता है। इसके विपरीत गरुड़ पक्षी की भाँति हवा की चाल चलनेवाला व्यक्ति भी यदि विपरीत दिशा में चल पड़े या प्रमाद में ही पड़ा रहे, चले ही नहीं, तो वह कभी भी अपने लक्ष्य को प्राप्त नहीं कर पाता।

किसी संस्कृत कवि ने ठीक ही कहा है -

गच्छन् पिपीलिका याति, योजनानि शतान्यपि ।
अगच्छन् वैनतेयापि, पदमेकं न गच्छति ॥

चलती हुई चींटी सौ-सौ योजन तक चली जाती है और न चलता हुआ वेनतेय पक्षी एक पद भी आगे नहीं वढ़ पाता।

धर्म के क्षेत्र में अधिकांश व्यक्तियों की वृत्ति प्रमाद में पड़े गरुड़ पक्षी जैसी देखकर ही संभवत: कवि को यह काव्य लिखने का भाव आया होगा।"

समापन समारोह में धर्मेश के विषय में ये विचार व्यक्त करते हुये लाभानन्द ने आगे कहा -

"भले ही धर्मेश गुरुजी वाल्यकाल से अपनी जीवन यात्रा में चींटी की चाल चले, पर आगम और युक्ति का आलम्वन लेकर अविरल रूप से सही दिशा में चलते रहे सो प्रौढ़ होते-होते अपने स्व-विवेक के सहारे गृहीत-अगृहीत मिथ्यात्व से व्याप्त संसार के टेढ़े-मेढ़े रास्तों को पार करकेइन्होंने आखिर अपने लक्ष्य की सीमा रेखा को छू ही लिया।

ज्ञातव्य है, कार्य के सम्पन्न होने में अन्य सव कारण-कलाप तो यथासमय मिल ही जाते हैं; पर स्वयं का पुरुषार्थ उनमें सर्वाधिक प्रवल हेतु होता है।

मैं परम स्वसंवेदन स्वरूप हूँ। मैं सहज आत्मा से उत्पन्न आनन्दस्वरूप हूँ। मैं परम आनन्द स्वरूप हूँ। मैं परम ज्ञानानन्द स्वभाव का धारी हूँ। मैं सदानन्द स्वरूप हूँ, चिदानन्द स्वरूप हूँ। मैं अमूर्त हूँ, मैं नित्य हूँ, मैं निष्कलंक हूँ, मैं निर्मोह स्वरूप हूँ, मैं कृतकृत्य हूँ, मैं अक्षय स्वरूप हूँ, मैं शास्वत हूँ, मैं सिद्ध स्वरूप हूँ, मैं पूर्ण परमात्म स्वरूप हूँ। मैं पूर्ण स्वाधीन स्वयंभू हूँ।"[१]

इत्यादि विशेषणों से अपने भगवान आत्मा के शुद्ध स्वरूप का ध्यान करना सर्वकर्म क्षय का हेतु है। यही निश्चयतः धर्मध्यान है।

सावलम्ब ध्यान के भेदों की चर्चा का समापन करते हुये धर्मेशजी ने कहा -

"इसप्रकार ध्यान की प्राथमिक भूमिका में विविध प्रकार के वीरागतावर्द्धक आलम्बनों पर अपने उपयोग को एकाग्र करने का अभ्यास करते हुये आत्मसम्मुख होने का अभ्यास किया जा सकता है। पर धर्मध्यान के इन सब भेद-प्रभेदों के रूप में किये जानेवाला ध्यान एकमात्र शुद्धात्मा के लक्ष्य से ही किया जाना चाहिए; क्योंकि सब धर्मध्यानों में एक आत्मा ही ऊर्द्ध होता है। आत्मज्ञान के बिना किये गये ध्यान का उपक्रम तो वस्तुतः धर्मध्यान ही नहीं है। अतः आत्मार्थियों को एवं मोक्ष अभिलाषियों को धर्मध्यान करने के लिए पहले आत्मज्ञान करने का पुरुषार्थ करना आवश्यक है। अन्यथा इन रागादिभावों का फल तो अनन्त संसार ही है।"

इस तरह आत्मज्ञान करने की प्रेरणा के साथ धर्मेश का प्रवचन पूरा हुआ।

यह प्रवचन शिविर का अन्तिम प्रवचन था। अतः प्रवचनोपरान्त लाभानन्द ने प्रस्ताव रखा कि शिविर समापन के उपलक्ष्य में धर्मेशजी की अध्यक्षता में ही एक समापन समारोह का आयोजन हो; जिसमें शिविरार्थी शिविर में हुये अपने खट्टे-मीठे अनुभव सुना सकें, उद्गार प्रगट कर सकें, कृतज्ञता ज्ञापन कर सकें एवं आवश्यक सुझाव भी दे सकें। सभी को लाभानन्द का प्रस्ताव उपयोगी लगा। अतः अगले दिन समापन समारोह की घोषणा के साथ कार्यक्रम समाप्त हो गया। शिविरार्थी शिविर में हुये आशातीत ज्ञान लाभ के कारण मन ही मन प्रसन्न होते हुये अपने-अपने आवास पर चले गये। •

---

१. परम स्वसंवेदन स्वरूपोऽहम्, सहजानन्द स्वरूपोऽहम्, परमानन्द स्वरूपोऽहम्, परम ज्ञानानन्द स्वरूपोऽहम्, सदानन्द स्वरूपोऽहम्, नित्योऽहम्, निष्कलंकोऽहम्, निर्मोह स्वरूपोऽहम्, कृत्यकृत्योऽहम्, अक्षयस्वरूपोऽहम्, शास्वतोऽहम

धर्मेशजी के जीवन को देखो ! उनके जीवन में पुरुषार्थ ही प्रवल रहा। अन्यथा अन्य कारण तो पहले भी असंख्य वार मिले; पर सम्यक् पुरुषार्थ विना सफलता कहाँ मिली ?

जव धर्मेशजी के उपादान की योग्यता ने जोर मारा तो समर्थ निमित्त के रूप में उन्हें घर वैठे पण्डित श्री जिनेशचन्द्रजी का सहज सत्समागम प्राप्त हो गया; जिनका सान्निध्य पाकर धर्मेशजी धन्य हो गये।

निमित्त कितने भी अकिंचित्कर क्यों न हों , उनकी अकिंचित्करता का शत-प्रतिशत श्रद्धान होने पर भी सहज निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध की स्वीकृति के कारण ज्ञानियों को भी भूमिकानुसार कृतज्ञता का भाव भी आता ही है। कहा भी हैं - 'नहि कृतमुकारं साधवो विस्मरन्ति।'

धर्मेशजी को तत्त्वज्ञान पण्डित जिनेशचंदजी से प्राप्त हुआ था; अतः वे पण्डित जिनेशचन्द्रजी के उपकार का स्मरण किये बिना कैसे रह सकते थे ? धर्मेशजी के तो रोम-रोम में उनके प्रति कृतज्ञता का भाव भरा था।

वे इस वात से अनभिज्ञ नहीं थे कि अकर्तृत्व आदि के सिद्धान्त अकाट्य हैं; पर साथ ही वे यह भी समझते थे कि लौकिक व्यवहार से उन सिद्धान्तों का कतई/कोई विरोध नहीं है। भूमिकानुसार सद्निमित्तों के प्रति कृतज्ञता का भाव आये बिना भी नहीं रहता और कार्य निष्पन्न होने में निमित्तों का कोई योगदान भी नहीं होता।

जिनवाणी का यह कथन कितना सटीक है कि **जो निमित्तों को न माने उनका ज्ञान झूठा और जो निमित्तों को कर्त्ता माने उनका श्रद्धान झूठा।**

भली होनहार से धर्मेशजी को माता-पिता भी ऐसे संस्कारी और सरल स्वभावी मिले जो उनके तत्त्वज्ञान में साधक तो नहीं वन पाये; पर वे उनकी आध्यात्मिक गतिविधियों में वाधक विल्कुल नहीं बने। उन्होंने अपने पुत्र व्यामोह को अपने विवेक पर हावी नहीं होने दिया। समय-समय पर प्रसन्नता प्रगट करके धर्मेशजी की गतिविधियों को प्रोत्साहित ही किया। माँ की ममता भी इनकी धर्माराधना में कभी बाधक नहीं बनी।

परिणामों की विशुद्धि और ज्ञान का क्षयोपशम तो होनहार का अनुसरण करते ही हैं - सो इनकी भी गुरुदेव में कोई कमी नहीं थी।''

लाभानन्द ने अपने भाषण में आगे कहा - ''यहाँ विचारणीय बात तो यह है कि ये सब साधन तो हम सबको भी अनेक बार मिले, पर इनसे हुआ क्या ?

धर्मेशजी यदि अपने अन्तर्मुखी उग्र पुरुषार्थ द्वारा अपने कर्तव्य पथ पर अडिग नहीं रहते, अपने दृढ़ संकल्प से अविचलित नहीं रहते तो कहीं भी भटक सकते थे। क्या-क्या संकट नहीं झेले इन्होंने ? कैसे-कैसे प्रतिकूल प्रसंग आये इनके सामने, फिर भी ये अपने लक्ष्य से विचलित नहीं हुए। सो ठीक ही है -

विचारवान और कर्त्तव्य-परायण व्यक्ति अपने गन्तव्य में आये सुख-दुःख की परवाह नहीं करते।

यही कारण था कि धर्मेशजी ने न तो अपनी सुख-सुविधाओं की ओर मुँह फेरकर देखा और न दुःखों की ही परवाह की।

धर्मेशजी के सत्संग से अमित का जीवन तो सुधरा ही; सुनन्दा, सुनयना के दुःख के बादल भी छट गये। बेचारी वे भी आर्तध्यान के महापाप से बच गईं। मनमोहन भी आत्महत्या जैसे जघन्य पाप से बच गया। अनुराग को भी सन्मार्ग मिल गया।

सम्पत सेठ जैसे अरबपति उद्योगपति को भी यह समझ में आ गया कि **यदि परिग्रहानन्दी रौद्रध्यान में ही जीवन चला गया तो शायद सातवें नरक में भी जगह नहीं मिलेगी; अतः जीवन के रहते इससे ममत्व कम करके शीघ्र ही आत्मा-परमात्मा की शरण में आ जाना चाहिए।**

सम्पत सेठ के साथ आये विद्वानों को भी धर्मेशजी के पवित्र जीवन से बहुत कुछ प्रेरणा मिली। जो विद्वान् अबतक स्वाध्याय के नाम पर केवल बौद्धिक व्यायाम ही किया करते थे, वे अब यह महसूस कर रहे थे कि सचमुच हमारे इस बुद्धिविलास के बगीचे से निराकुल सुख-शान्ति के सुमधुर एवं सुगंधित फल-फूल तो फलते-फूलते ही नहीं हैं। यह कैसी बंजर वाटिका है, जिसमें धर्म के फल-फूल ही नहीं फलते-फूलते ?''

लाभानन्द के पश्चात् एक वरिष्ठ विद्वान् ने कहा - "सा विद्या या विमुक्तये - सचमुच वही विद्या विद्या है, जिससे मुक्ति मिले या जो मुक्ति के लिये सार्थक सिद्ध हो। एक अध्यात्म विद्या ही ऐसी विद्या है, जिससे अतीन्द्रिय आनन्द की प्राप्ति होती है, कर्म बन्धनों से मुक्ति मिलती है।

अन्य लौकिक विद्यायें तो कहने की विद्यायें हैं। जो आनन्द के बजाय अशान्ति में कारण बनें, उन्हें विद्या कहेगा ही कौन ? विद्या मानेगा ही कौन ?

जो सुख शान्ति देने के बजाय ज्ञान का गुमान पैदा करे, आकुलता उत्पन्न करे, वह भी कोई विद्या है ?

कहने को तो बहत्तर (विद्यायें) कलायें हैं, पर सचमुच तो उसमें दो ही प्रमुख हैं, उन दो प्रमुख कलाओं में प्रथम कला तो आजीविका का उपार्जन करना है और दूसरी कला है आत्मा का उद्धार करना। बस ये दो कलायें ही सार्थक हैं। किसी ने ठीक ही कहा है -

'कला बहत्तर पुरुष कीं, तामें दो सरदार ।
एक जीव की जीविका, दूजी जीवोद्धार ॥

अत: जिन्हें जीविका की कोई समस्या नहीं है; उन्हें तो जीवोद्धार के काम में तत्काल लग ही जाना चाहिए और जिन्हें आजीविका की समस्या है; उन्हें भी आजीविका से बचे शेष समय का सदुपयोग जीवोद्धार में ही करना चाहिए।

इस दृष्टि से धर्मेशजी का जीवन और उनके संदेश सचमुच आदर्श हैं, हम सब के लिए अनुकरणीय हैं।"

सम्पत सेठ के साथ आये वयोवृद्ध विद्वान् ने अपने साथी वरिष्ठ विद्वान के मुँह की बात छीनते हुए गद्‌गद् भाव से कहा - "अरे भाई ! तभी तो हम कहते हैं कि तुम भी हमारे साथ एक-दो माह रुककर इस ज्ञानगंगा में आकंठ निमग्न होकर स्नान करो और अपने राग-द्वेष से मैले मन का मैल धोकर ही जाओ। तुम्हारे कौन से नन्हें-मुन्ने बाल-बच्चे रो रहे हैं। पर तुम तो हमारी बात सुनने को

धर्मेश के वालसखा अमित ने विद्वानों को लक्ष्य करके अपने वक्तव्य में कहा - "आप लोग तो विद्वान् हो, आप लोगों के रुकने से हमें भी विशेष लाभ होगा; क्योंकि आप के निमित्त से और भी अधिक महत्त्वपूर्ण व सूक्ष्म चर्चा चलेगी। शिविरों में तो हम जैसे सामान्य स्तर के लोगों का बहुमत रहने से स्थूल विषय हो अधिक निकलता है। आप लोग एक माह रुककर देखिये तो सही, कितना आनन्द आता है। आप लोगों के द्वारा हमें भी तो लाभ होगा। आप अवश्य रुकें। आशा है आप लोग मेरे अनुरोध पर विचार करेंगे।"

इतना कहकर अमित ने अपने भाषण से विराम लिया ही था कि वहाँ बैठे सभी ने अमित का समर्थन कर उन विद्वान् महोदय से रुकने का खूब-खूब आग्रह किया।

अमित ने पुनः कहा - "अरे ! मैं तो नम्बर एक का नास्तिक था, पर धर्मेशजी में तो ऐसी चुम्बकीय शक्ति है, जिससे शायद ही कोई बच सके। मुझ जैसे पापी को भी धर्मेशजी आखिर राह पर ले ही आये।"

कहते-कहते अमित की आँखों से आँसुओं की धारा प्रवाहित होने लगी।

अन्त में अपने दीक्षान्त भाषण में धर्मेशजी ने कहा - "देखो, इस बीस दिवसीय शिक्षण शिविर में हम लोगों ने वर्तमान में हो रहे अपने भावों की समीक्षा द्वारा आर्त-रौद्र ध्यानों को दृष्टि में रखते हुए 'ध्यान' विषय को मुख्य केन्द्र-बिन्दु बनाकर आगम के आलोक में विचार-विमर्श किया। अपनी वर्तमान परिणति को समझने की कोशिश की तथा संसार की कारणभूत इस शुभाशुभ परिणति से मुक्त होने के उपायों पर भी संक्षेप में चर्चा की।

किंचित् मतभेदों के साथ अधिकांश भारतीय दर्शनों में निर्वाण की प्राप्ति के लिए मूलतः आत्मा-परमात्मा के ध्यान को ही एकमात्र अन्तिम उपाय दर्शाया गया है।

यह ज्ञातव्य है कि ध्यान व्यक्ति की वहिर्मुखी मानसिक वृत्ति को अन्तर्मुखी वनाता है। वस्तुतः पाँच इन्द्रियों व मन के द्वारा विकेन्द्रित ज्ञान-

किरणों को अन्तर्मुखी पुरुषार्थ से आत्मा पर केन्द्रित करने की प्रक्रिया ही धर्मध्यान है। आचार्य कुन्दकुन्ददेव ने वचनालाप का एवं चित्तवृत्तियों का निरोध कर पूर्ण अन्तर्मुखी होने की प्रक्रिया को सामान्यत: ध्यान संज्ञा दी है। पर पूर्ण अन्तर्मुखी होने से पहले आत्मज्ञान परमावश्यक है। आत्मज्ञान के बिना आत्मध्यान या धर्मध्यान संभव नहीं है और धर्मध्यान के बिना सच्चे ध्येय की प्राप्ति सम्भव नहीं है। ध्रुवधाम आत्मा के ध्यान से ही पर्याय में पूर्णता की प्राप्ति होती है।

इसके लिए जिनागम में प्रतिपादित वस्तुस्वातंत्र्य का सिद्धान्त सर्वाधिक उपयोगी है। अत: पहले व्यवहार धर्मध्यान के माध्यम से तत्त्व विचार करना आवश्यक है।

जबतक कर्त्ताबुद्धि से पर में किसी प्रकार से परिवर्तन करने/कराने की मान्यता या सोच रहेगा, तबतक मन की वृत्ति/प्रवृत्ति पर नियंत्रण संभव नहीं है। अत: सर्वप्रथम तत्त्वज्ञान का एवं वर्तमान में हो रहे **अपने भावों का फल क्या होगा** - इस बात का विचार करना चाहिए।''

शिविर समापन के साथ 'ध्यान' विषय की चर्चा का उपसंहार करते हुए धर्मेशजी का जो प्रवचन हुआ, उससे सभी श्रोताओं के स्मृति-पटल पर सम्पूर्ण शिविर में चर्चित विषय-वस्तु चलचित्र के चित्रपट की भाँति प्रतिबिम्बित हो गई।

सभी श्रोताओं ने मन ही मन अपने ज्ञान-गुरु धर्मेशजी का धन्यवाद ज्ञापन किया और उनके स्वास्थ्य व दीर्घजीवन की कामना की।

अन्त में ज्ञानानंदस्वभावी राष्ट्रीय गीत के साथ शिविर समापन समारोह सम्पन्न हुआ। अगला आध्यात्मिक शिक्षण-शिविर शीघ्र लगे, इस आशा व अभिलाषा के साथ धर्मेशजी एवं कार्यकर्त्ताओं को धन्यवाद देते हुए सभी लोग अपने-अपने घर को प्रस्थान कर गये। •

अभिमत

हम प्रशंसा किये बिना नहीं रह सकते

* समीक्ष्य प्रकाशन 'इन भावों का फल क्या होगा' एक धार्मिक उपन्यास के रूप में रोचक साहित्य सर्जना है। यह पापों और दुर्ध्यानों का खोटा फल दिखाकर नैतिक जीवन जीने का पथ प्रशस्त करता है। भाषा में सौष्ठव एवं प्रवाह होने से आगे क्या होगा ? पाठकों में इस प्रकार की जिज्ञासा जागृत रखता है। प्रेरणाप्रद आख्यान इतना सुन्दर बन पड़ा है, जिसकी हम प्रशंसा किये बिना नहीं रह सकते हैं। **– प्रकाश हितैषी शास्त्री**

अंक : सितम्बर १९९६ सम्पादक, सन्मति संदेश (मासिक), दिल्ली

ध्यान की मार्गदर्शिका

* समीक्ष्य उपन्यास सम्पूर्ण रूप से ध्यान विषय के लिये समर्पित है।

मनुष्य के मन में निरन्तर उठनेवाले आर्त-रौद्र भावों का मंथन करने, उनके दु:खद स्वरूप को जानने-पहचानने एवं उनसे संत्रस्त मानव जीवन को शान्त करने के उपायों तक पाठकों को ले जाने में विद्वान लेखक पूर्ण सफल रहे हैं।

यह कृति अत्यन्त सरल-सुबोध शैली और रोचक कथानक के रूप में होने से पाठकों के लिये अत्यधिक लाभदायक बन गई है।

धर्मध्यान की मार्गदर्शिका के रूप में प्रस्तुत कृति आत्मार्थियों के लिये सत्पथप्रदर्शक का काम करती है। ऐसी उपयोगी प्रस्तुति के लिए लेखक का हार्दिक अभिनंदन। **– प्रा. सौ. लीलावती जैन**

अंक : अगस्त '९६ सम्पादिका, धर्ममङ्गल (मासिक), जलगाँव

आबाल-वृद्ध सभी के लिए उपयोगी कृति

* समीक्ष्य उपन्यास 'ध्यान' को केन्द्रित करके लिखा गया है। विद्वान लेखक ने रोचक कथानक के माध्यम से पाठकों की जिज्ञासा को जागृत किया

हैं। तत्त्वज्ञान को सरल, सहज, सुबोध एवं सर्वग्राह्य भाषा-शैली में रोचकता के साथ हृदयंगम कराना कृति की प्रमुख विशेषता है।

प्रत्येक प्राणी प्रति समय कुछ न कुछ चिन्तन करता रहता है और यह चिन्तन प्रायः अशुभ ही होता है तथा सोच के अनुसार उसकी क्रियाएँ होती हैं। इन क्रियाओं को करते समय वह यह नहीं विचारता है कि उसके इस चिन्तन का एवं क्रियाओं का परिणाम क्या होगा ? इसकी लेखक को अत्यन्त पीड़ा है, अतः उन्होंने इस रोचक कथानक के द्वारा मानव को उसके निरन्तर होने वाले आर्त-रौद्र ध्यान के दुष्परिणामों से अवगत कराके उससे बचने की तथा धर्म की शरण में आने की प्रेरणा दी है। कृति आबाल-वृद्ध सभी के लिए उपयोगी है।

- शैलेष कापड़िया

अंक : १२/८/९६ सम्पादक, जैन मित्र (साप्ताहिक), सूरत

अनुपम कृति

* यह नवीन कृति - 'इन भावों का फल क्या होगा' का अवलोकन कर चित्त आनन्द से भर गया। यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कृति है। 'ध्यान' को केन्द्र बिन्दु बनाकर आधुनिक रोचक शैली में तथा सरस और सरल भाषा में लिखी गई यह अनूठी कृति आध्यात्मिक रुचि सम्पन्न समस्त मुमुक्षुओं को आर्त और रौद्र ध्यानरूप कुभावों से छुटकारा दिलाकर धर्म और शुक्लध्यान की ओर बढ़ने की प्रेरणा देने के लिए निश्चय ही रामवाण औषधि का काम करेगी।

धर्मेश, जिनेश, अमित आदि पात्रों के माध्यम से अध्यात्म से सम्बन्धित कथानक का प्रारंभ करके उसे धर्म और शुक्ल ध्यान रूप शिखर के चरम उत्कर्ष पर पहुँचाया गया है। अमित जैसे भौतिकवादियों को अध्यात्मदर्शन की शिक्षा देनेवाली यह कृति अनुपम है। ऐसी उच्चकोटि की कृति के लेखक हार्दिक बधाई के पात्र हैं। मैं लेखक के व्यक्तित्व एवं कर्तृत्व से बहुत ही प्रभावित हूँ।

२०/१/९७ - **प्रो. उदयचन्द जैन**, सर्वदर्शनाचार्य

सेवानिवृत्त विभागाध्यक्ष, हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

युवा पीढ़ी निश्चय ही लाभान्वित होगी

* श्री रतनचन्दजी भारिल्ल ने ध्यान जैसे गूढ़ विषय को बहुत ही रोचक ढंग से कथानक शैली में लिखकर इस कृति के माध्यम से जन-सामान्य तक पहुँचाने का प्रयास किया है। पुस्तक की भाषा-शैली हृदयग्राही तो है ही, एक बार पढ़ना शुरू करने पर पूरी पढ़े बिना छोड़ने का मन नहीं करता। युवा पीढ़ी निश्चय ही इस कृति से लाभान्वित होगी। यदा-कदा दिए गए चित्र भावपूर्ण हैं। आवरण पृष्ट देखकर ही पुस्तक की विषयवस्तु का ज्ञान हो जाता है। विदाई की वेला तथा संस्कार की सफलता के पश्चात् इसी कृति ने लेखक को निश्चित ही सफलतम लेखकों की श्रेणी में ला खड़ा किया है। **– अखिल बंसल**, एम.ए.

अक्टूबर (द्वितीय पक्ष) १९९६ सम्पादक, समन्वय वाणी, जयपुर

युग की अपेक्षाओं के अनुरूप उपयोगी कृति

* समसामयिक सन्दर्भों को मनोवैज्ञानिक ढंग से प्रस्तुत करते हुये जैनदर्शनोक्त 'ध्यानतत्त्व' का सरल, व्यावहारिक ढंग से प्रस्तुत करनेवाली एवं शुभ-अशुभध्यानों का स्पष्ट सीमांकन करनेवाली यह कृति न केवल पठनीय है, अपितु मननीय एवं अनुकरणीय भी है।

भले ही यह त्रेसठ शलाका महापुरुषों के जीवन पर आधारित नहीं है; परन्तु 'सामान्यजनों को कथानकों के माध्यम से धर्मतत्त्व का ज्ञान एवं सुसंस्कार देने के प्रथमानुयोग के व्यावहारिक उद्देश्य को पूर्ण करती है।

आज के युग की अपेक्षाओं के अनुरूप इस उपयोगी कृति के लिये विद्वान लेखक साधुवादार्ह हैं। **– डॉ. सुदीप शास्त्री**, एम.ए. पीएच.डी.

जुलाई-सितम्बर ९६ प्राकृतक विद्या (त्रैमासिकी शोध पत्रिका)

कुन्द-कुन्द भारती, १८-बी, स्पेशल इन्स्टीट्यूशनल एरिया, नई दिल्ली ६

पुस्तिका दर्पण का काम करती है

* सुप्रसिद्ध आध्यात्मिक विद्वान पण्डित रतनचंदजी भारिल्ल द्वारा लिखित 'इन भावों का फल क्या होगा' नामक पुस्तिका मैंने प्रारम्भ से लेकर अंत तक बहुत ही गौर से पढ़ी। पुस्तिका आत्म-निरीक्षण के लिए एक दर्पण का काम करती है। इसमें हृदय की भावनाओं का सही चित्रण किया गया है। पाठक को [illegible]

पड़ेगा कि मैं कहाँ जा रहा हूँ और मुझे क्या करना है ? वास्तव में यह प्रयास अति सुन्दर है। मैं माननीय विद्वान के प्रति भावना प्रकट करता हूँ कि वे सदियों तक इसी तरह साहित्य लिखते हुए आदर्श जीवन को प्राप्त करें।

(व्याख्यान वाचस्पति, वाणीभूषण) पण्डित सत्यंधर कुमार सेठी
प्रधान संचालक, विश्व जैन मिशन, उज्जैन

बहुत अच्छी लगी

* विद्वान पण्डित रतनचंदजी भारिल्ल की 'विदाई की बेला' के बाद 'इन भावों का फल क्या होगा' पुस्तक पढ़ी, बहुत अच्छी लगी। सचमुच कृति विवेक की आँख खोलने वाली है। इसकी जितनी भी प्रशंसा की जाये, कम ही होगी। एतदर्थ मान्य लेखक के लिये हमारा हार्दिक अभिनन्दन।

(बा. ब्र.) धन्यकुमार वेलोकर
उपाध्यक्ष, श्री कुंदकुंद कहान तीर्थ सुरक्षा ट्रस्ट, मुम्बई

मैं अपना सौभाग्य समझूँगा

* जब मैंने 'इन भावों का फल क्या होगा' उपन्यास किस्तों में पढ़ने के बाद पुनः एक साथ पढ़ा, तब कुछ अलग ही अनुभूति हुई। पाठकों को व्यवहार से निश्चय की ओर ले जाने का इसमें सफल प्रयोग हुआ है।

मेरी हार्दिक भावना है कि इतनी सुन्दर एवं सार्थक कृति से कन्नड़ भाषी वंचित न रहे, उन्हें भी इसका भरपूर लाभ मिले। एतदर्थ इसका कन्नड़ भाषा में अनुवाद उपलब्ध होना चाहिए। क्या मैं इसे कन्नड़ में अनूदित करने का सौभाग्य प्राप्त कर सकता हूँ। यदि अनुमति हो तो मैं इस काम को करने में अपना सौभाग्य समझूँगा।

– **(पण्डित) बाहुबली भोसगे शास्त्री**, हुबली (कर्नाटक)

उद्बोधक कृति

* यशस्तिलक के रचयिता श्री सोमदेव सूरि के कथनानुसार – 'जो पुरानी बातों को नये ढंग से और नई बातों को पुराने ढंग से लिखकर या बोलकर जनता के समक्ष प्रस्तुत कर सकते हैं, वे ही विशिष्ट विद्वान् कहे जाते हैं और वे ही पाठकों को उद्बोधित कर सकते हैं।'

यह बात आध्यात्मिक विषयों के कुशल लेखक पण्डित प्रवर रतनचन्दजी में घटित हो रही है। आपकी शिक्षाप्रद मनोरंजक अभिनव कृति – 'इन भावों का फल क्या होगा' अत्यन्त उद्बोधक है।

युवावस्था में मानव में स्वभावतः जोश अधिक और होश कम होता है ऊपर से वर्तमान काल में चलचित्र का भारी प्रचार प्रसार एवं प्रभाव है, जिससे अच्छी शिक्षा कम और बुरी शिक्षा अधिक मिलती है। ऐसी अवस्था में अच्छे-से-अच्छे गुरुजनों के उपदेश भी उन्हें प्रभावित नहीं कर पाते। चिकने घड़े पर पानी का प्रभाव पड़ना कठिन ही होता है। पर सौभाग्यवश श्रीमान् पण्डित रतनचन्दजी भारिल्ल आधुनिकतम पद्धति से सरल और सरस भाषा में आध्यात्मिक शिक्षाप्रद कृतियों की रचना कर रहे हैं।

अभी केवल तीन माह पहले आपने "इन भावों का फल क्या होगा" ग्रन्थ लिखा था। इसके दो संस्करण हाथों हाथ समाप्त हो गये, अब इसका तीसरा संस्करण प्रकाशित हो रहा है। यह लेखक की सफलता का प्रबल प्रमाण है।

प्रस्तुत कृति का मुख्य विषय ध्यान है। विषय को स्पष्ट करने हेतु इसमें यत्र-तत्र चित्र दिये गये हैं। मुख पृष्ठ के चित्रों को देखते ही आर्त और रौद्रध्यान का स्वरूप समझ में आ जाता है। ये दोनों ही दुर्ध्यान हैं और नरक के निदान हैं।

ऐसी उत्तम कृति लिखने के लिए भारिल्लजी का प्रशस्त प्रयास जैन समाज के द्वारा अभिनन्दनीय है। ऐसी कृति तैयार करने के उपलक्ष्य में मैं आपको कोटि-कोटि बधाईयाँ समर्पित करता हूँ।

मुझे आशा है कि यह कृति जिनालयों, पुस्तकालयों और जैन समाज के घरों में अवश्य पहुँचेगी।

दि. १५/१०/९६

– **अमृतलाल जैन शास्त्री**, साहित्याचार्य
सेवानिवृत्त आचार्य
बा. सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्व विद्यालय, वाराणसी

बेजोड़ कृति

*'इन भावों का फल क्या होगा' श्री रतनचंदजी भारिल्ल की अनुपम एवं बेजोड़ कृति है। 'ध्यान' विषय को पुस्तक का माध्यम बनाकर उसे बहुत ही सरल भाषा में लिखने का प्रयास लेखक द्वारा किया गया है। अन्य कृतियों के समान यह कृति भी पाठकों में समुचित समादर प्राप्त कर रही है, इसका हमें हर्ष है।

– **पूनमचंद छाबड़ा,** मंत्री, पं. टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर

सुखद आश्चर्य

* पिछले एक दशक से पण्डित प्रवर श्री रतनचंदजी भारिल्ल की एक से बढ़कर एक कृतियाँ पढ़ने में आ रही हैं। पाठकों ने इन्हें जिस द्रुतगति से अपनाया है, यह अपने आप में एक सुखद आश्चर्य है। प्रस्तुत पुस्तक भी तो इतनी लोकप्रिय हो रही है कि ग्यारह माह में ही इसके ५-५ हजार के चार संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं।

यह कृति अपने नाम को चरितार्थ कर रही है। इस नाम से पाठक के मन में यह प्रश्नचिन्ह लग जाता है कि जरा देखें तो सही लेखक किन भावों की ओर संकेत कर रहा है ?

इस कृति का मराठी व गुजराती अनुवाद हो चुका है। कन्नड़ में भी शीघ्र अनुवाद हो, ताकि कन्नड़ भाषी भी इस लाभ से वंचित न रहें।

– **ब्र. यशपाल जैन,** एम.ए., कुम्भोज बाहुबलि (महा.)

लेखन की विशिष्ट छवि

* माननीय पण्डित रतनचन्दजी भारिल्ल की लेखन छवि जनमानस के हृदय-पटल पर महत्त्वपूर्ण विषयों को विशिष्ट सरलतम शैली में प्रस्तुत करने के रूप में अंकित हो चुकी है।

जिन पूजनरहस्य आदि की शृंखला में 'इन भावों का फल क्या होगा' पाकर पाठकवर्ग विशेष उपकृत हुआ है। प्रस्तुत कृति आद्योपांत बारम्बार पढ़ने तथा परिचितों में वितरित करने योग्य है। आशा है प्रत्येक पाठक इसके माध्यम से इष्ट फलदायक भावों रूप परिणमित होगा।

– **अभय कुमार जैन शास्त्री**, एम.कॉम., जैन दर्शनाचार्य, जबलपुर (म.प्र.)

एक अभिनव श्लाघनीय प्रेरक प्रयोग

* 'ये मेरे भाव होते हैं, उनका फल क्या होगा', मोक्षमार्ग प्रकाशक में श्रोता के स्वरूप में कहे पण्डित टोडरमलजी के इस विचार वाक्य को औपन्यासिक विधा में गूँथने वाले पण्डित श्री रतनचंदजी भारिल्ल का यह एक अभिनव, श्लाघनीय प्रेरक प्रयोग है।

मानवीय भावों की प्रकृति, तद्गत विकृति, और उनके फलों की करुण कहानी को जितनी सहजता व सरलता से लेखक ने प्रस्तुत किया है, उसे देखकर लगता नहीं कि हम पढ़ रहे हैं या लेखक की सधी तूलिका से चित्रांकित दृश्यों को देख रहे हैं।

पण्डित टोडरमलजी के ऐसे बहुत से विचार वाक्य हैं कि जिनको आधार बनाकर कहानी, उपन्यास आदि लिखे जा सकते हैं। लगता है, लेखक ने इस तथ्य को समझा है। अतः पाठकों को यह अपेक्षा रखने का नैसर्गिक अधिकार है कि वे लेखक से आग्रह करें कि लेखक अपनी इस योग्यता को जीवंत बनाये रखकर पाठकों को ऐसी सामग्री समय-समय पर परोसते रहें।

– **डॉ. योगेशचन्द जैन**, एम.ए., पीएच.डी., अलीगंज (एटा) उ.प्र.

प्रत्येक पृष्ठ पर कुछ न कुछ मिल ही जाता है

* आपकी जितनी भी रचनायें हैं, मैंने सभी रुचि से पढ़ी हैं। किन्तु [illegible] नवीन रचना 'इन भावों का फल क्या होगा' पढ़ कर तो चित्त [illegible] हो गया। खोजने पर प्रत्येक पृष्ठ पर कुछ न कुछ माल मिल [illegible]

– **(कविवर) राजमल पवैया**, ४४, इब्राहिमपुरा. [illegible]

मन मोद से भर गया

* 'इन भावों का फल क्या होगा' नामक कृ[illegible] कथ्य-कौशल से तथ्य का बखूबी प्रतिपादन कि[illegible] का कौतूहल पाठक में चिरंजीवी रहता है। [illegible] लेखक में तात्त्विक स्वरूप स्पष्ट है व [illegible] अनूठी है, उल्लेखनीय है। – ([illegible]

एम.ए., पीएच.डी., डी.लिट. [illegible]

यह अनमोल पुस्तक बारम्बार पठनीय है

* 'इन भावों का फल क्या होगा' पुस्तक पढ़कर अत्यन्त प्रसन्नता हुई। वास्तव में यह पुस्तक बहुत उपयोगी है। हम प्रतिसमय बिना विचारे न जाने कितने प्रकार के भाव कर-कर के अपने संसार-बन्धन को दृढ़ करते रहते हैं। परन्तु जब इस पुस्तक के माध्यम से उन्हीं आर्त-रौद्र भावों के फल की जानकारी करते हैं तो यह पुस्तक हमारे चिन्तन को सही दिशा प्रदान करती है। वास्तव में पुस्तक बारम्बार पठनीय है। ध्यान जैसे अध्यात्म के गूढ़ विषय को इतने सहज और रोचक ढंग से जीवन में उतारने की कला है इस अनमोल पुस्तक में। इसके लिये आपको कोटिशः धन्यवाद।

- श्रीमती वृजवाला जैन, ध.प. स्व. जिनेन्द्रदास जैन (इंजीनियर)

शुगर मिल कॉलोनी, धामपुर (उ.प्र.)

मिश्री के माध्यम से दवाई पिलाने जैसी है

* आपकी अनुपम कृति 'इन भावों का फल क्या होगा' मैंने आद्योपान्त पढ़ी। बहुत अच्छी लगी। ध्यान के बारे में आपने बहुत ही अच्छा चिन्तन किया है। आजकल ध्यान के बारे में बहुत गलतफहमी चल रही है। उसका खुलासा हुआ, अच्छा हुआ। यह उपन्यास सबके लिये बहुत ही लाभकारी सिद्ध होगा। टी.वी. के माध्यम से और अश्लील उपन्यासों के द्वारा नई पीढ़ी पर बुरे संस्कार हो रहे हैं। उससे बचने के लिए यह पुस्तक और 'संस्कार' पुस्तक युवा पीढ़ी के लिए कुशल मार्गदर्शक बन गयी है।

उपन्यास के माध्यम से तत्त्व का प्रचार करने की आपकी शैली मिश्री के माध्यम से दवाई पिलाने जैसी है। आप हमेशा नया निर्माण करते हैं तो हम जैसों के लिए नया खाद्य मिलता है। आपने और डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल ने जिनवाणी माता की सच्ची सेवा की है। आपका समाज पर बहुत बड़ा ऋण है। आपके बारे में कितना भी लिखे, कम ही है।

ब्र. गजा बेन

संचालिका, श्री ब्रह्मचर्य आश्रम कुंभोज बाहुबली (महाराष्ट्र)